आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च

विवेक-शिखा

रामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा की प्रमुख हिन्दी मासिकी

वर्ष : 23 मार्च-अप्रील अंक : ३-४

रामकृष्ण निलयम, जयप्रकाश नगर, छपरा - ८४१ ३०१ (बिहार)

श्री श्री माँ सारदा देवी की 150 वीं पुण्य जयंती के उपलक्ष्य में रामकृष्ण मिशन आश्रम, पटना द्वारा

घोषणाएँ

रामकृष्ण मिशन के मुख्यालय बेलुड़ मठ ने यह सुखद निर्णय लिया है कि माँ सारदा देवी के 150 वें जन्मोत्सव के उपलक्ष्य में देश-देशान्तर के विभिन्न केन्द्रों में पूरे वर्ष भर कार्यक्रम किये जायेंगे । पटना रामकृष्ण मिशन आश्रम में ये कार्यक्रम 16 दिसम्बर 2003 से प्रारंभ होकर माँ की तिथि-पूजा दिसम्बर 2004 तक चलेगें । यह वर्ष पूर्ण रूप से गरीब छात्र/छात्राओं की शिक्षा एवं महिला सशक्तीकरण के प्रति समर्पित है । इन कार्यक्रमों के संचालन के क्रम में कई कार्यक्रमों की शुरूआत की जा चुकी है। एक महत्त्वपूर्ण निर्णय लिया गया है कि 30 गरीब छात्राओं के लिए आठवीं कक्षा तक प्राथमिक शिक्षा की निःशुल्क व्यवस्था की जायेगी । माँ सारदा देवी नारी जीवन के लिए आदर्श हैं । वह भारतीय नारी का समन्वित रूप हैं । वास्तव में उन्होंने नारी जागृति की श्री गणेश किया । उनके जीवन से हम समाज की विसंगतियों तथा उनके निवारण के उपाय भी जान सकते हैं । इसीलिए हम सभी का यह कर्त्तव्य है कि माँ सारदा देवी के प्रति समर्पित कार्यक्रमों में उदारतापूर्वक सहयोग करें ।

<u>आप किस प्रकार इस कार्य में सहयोग कर सकते हैं :–</u>

1. आप गरीब महिलाओं के उत्थान हेतु चलाये जा रहे कार्यक्रमों के सफल संचालन के लिए स्थायी समाधान में अपना योगदान दे सकते हैं । इसके विभिन्न कार्यक्रम इस प्रकार हैं :–
   - (क) लड़के/लड़कियों को हस्त कला, घरेलू उपकरणों की मरम्मत (यांत्रिक एवं इलेक्ट्रिक) सिलाई मशीन इत्यादि का प्रशिक्षण देकर ।
   - (ख) झुग्गी-झोपड़ी वाले क्षेत्रों में सफाई और स्वास्थ्य कार्यक्रम चलाकर ।
   - (ग) विद्यालय/महाविद्यालयों में माँ सारदा देवी के जीवन और दर्शन पर व्याख्यानों के द्वारा ।
   - (घ) महिलाओं द्वारा घर में निर्मित वस्तुओं की प्रदर्शनी के द्वारा ।
   - (ङ) वार्षिक पत्र-पत्रिका/स्मारिका/पुस्तिकाओं/पत्रिकाओं आदि का विज्ञापन एवं जन सहयोग से प्रकाशन कर ।
   - (च) आश्रम में भक्त-सम्मेलन का आयोजन कर ।
   - (छ) सांस्कृतिक कार्यक्रमों के द्वारा ।
   - (ज) शैक्षिक गतिविधियों के माध्यम से ।
   - (झ) स्वास्थ्य-शिविर/विचार-गोष्ठियाँ कर के ।
   - (ट) पर्यावरण एवं प्रदूषण से संबंधित कार्यक्रम चलाकर ।
   - (ठ) परिचारिका प्रशिक्षण/पारामेडिकल पाठ्यक्रम (वर्त्तमान कार्यक्रमों में अभ्यार्थियों को भेज कर) ।
2. (क) आप एक वर्ष तक एक निर्धन छात्रा की शिक्षा CBSE/BSEB/ICSE के लिए व्यय-भार वहन कर सकते हैं ।
   - (ख) आप स्तरीय शैक्षणिक संस्थान में पूर्ण अथवा अर्धशुल्क प्रदान कर सकते हैं अथवा उसकी व्यवस्था कर सकते हैं ।
   - (ग) आप बालिकाओं के गणवेष तथा पठन-पाठन सामग्री के खर्च के लिए अपना योगदान दे सकते हैं ।
   - (घ) आप अपने परिचित अथवा संरक्षण/सहयोग में चलने वाली शैक्षणिक तथा कोचिंग संस्थानों में आश्रम के द्वारा अनुमोदित 3-5 गरीब छात्र/छात्राओं को पूर्ण या अर्ध शुल्क माफ करा कर सहायता कर सकते हैं ।
3. (क) आप गरीब छात्र/छात्राओं की शिक्षा के लिए स्थायी कोष में योगदान कर सकते हैं ।
   - (ख) विभिन्न शैक्षिक कार्यक्रमों के संचालन के लिए खर्च वहन कर सकते हैं अथवा इस हेतु स्थायी कोष में योगदान कर सकते हैं ।

शुभकामनाओं के साथ,

भवदीय

स्वामी मंगलानन्द

सचिव

॥ उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ॥

विवेक-शिखा

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा की प्रमुख
हिन्दी मासिकी

मार्च-अप्रैल-२००४

सम्पादक
डॉ० केदारनाथ लाभ
सहायक सम्पादक
ब्रज मोहन प्रसाद सिन्हा

वर्ष २३
अंक ३-४

वार्षिक ६०/- एक प्रति १०/-

आजीवन ग्राहकता शुल्क
(20 वर्षों के लिए) ७००/-
संरक्षक-योजना
न्यूनतम दान-१०००/-

-: सम्पादकीय कार्यालय :-
विवेक-शिखा
रामकृष्ण निलयम्, जयप्रकाश नगर
छपरा : ८४१ ३०१ (बिहार)
दूरभाष : (०६१५२) २३२६३९

संस्थापक प्रकाशिका
स्व० श्रीमती गंगा देवी

इस अंक में

विवेक शिखा

के आजीवन सदस्य

२०४. श्री ए. डी. भट्टाचार्य-भद्रकाली (पं.बं.)
२०४. श्री ए. डी. भट्टाचार्य-भद्रकाली (पं.बं.)
२०५. अध्यक्ष-हिन्दी विभाग, राजेन्द्र कॉलेज, छपरा सारण (बिहार)
२०६. श्री दीपक कुमार विद्यार्थी, काराधीक्षक जमशेदपुर (झारखण्ड)
२०७. सचिव, रामकृष्ण मिशन, पोरबन्दर (गुजरात)
२०८. सचिव, रामकृष्ण मिशन, राँची (बिहार)
२०९. श्रीमती शुभा कामत-मुम्बई (महाराष्ट्र)
२१०. श्री बी. एल. अग्रवाल, नगाँव (आसाम)
२११. श्री कैलास खेतान, नगाँव (आसाम)
२१२. श्रीमती शोभा मनोत, कोलकाता
२१३. श्री संजय जिंतुरकर, औरंगाबाद (महाराष्ट्र)
२१४. श्री कृष्ण कुमार नेवटिया, कोलकाता
२१५. श्री नन्द लाल टांटिया, उत्तर काशी
२१६. श्रीमती मंजु गुप्ता, वाराणसी
२१७. श्रीराम कुमार शुक्ला, बाराबंकी
२१८. डॉ० दिनेशचन्द्र पाठक, चम्पावत
२१९. श्रीमती वसन्ती शर्मा, ऊधम सिंह नगर
२२०. श्रीमती विद्या मुरारी, पिथौरागढ़
२२१. श्रीमती गीता मर्थला, नैनीताल
२२२. रामकृष्ण मिशन आश्रम, नारायणपुर

विवेक शिखा के संरक्षक

विवेक शिखा के प्रकाशन की सुविधा को ध्यान में रखकर **'विवेक शिखा'** के 'स्थायी कोष' की योजना बनायी गयी है । जो कोई कम से कम १०००/- (एक हजार) रुपये या इससे अधिक रुपये 'विवेक शिखा' के 'स्थायी कोष' के लिए दान देंगे वे इसके संरक्षक होंगे । विवेक शिखा में उनका नाम प्रकाशित होगा और वे आजीवन विवेक शिखा निःशुल्क प्राप्त करते रहेंगे । विवेक शिखा के जो आजीवन सदस्य हैं वे शेष रकम देकर इसके संरक्षक हो सकते हैं । यह योजना केवल भारत के दाताओं के लिए लागू है ।

व्यवस्थापक

संरक्षक सूची

	नाम	स्थान	राशि
१.	श्रीमती कमला घोष	इलाहाबाद	३,०००/-
२.	श्री नन्दलाल टाँटिया	कोलकाता	१,०००/-
३.	श्री हरवंश लाल पाहड़ा	जम्मूतवी	१,०००/-
४.	श्रीमती निभा कौल	कोलकाता	१,०००/-
५.	डॉ. सुजाता अग्रवाल	कर्नाटक	१,०००/-
६.	श्रीमती सुभद्रा हाकसर	कोलकाता	५,०००/-
७.	स्वामी प्रत्यगानन्द	चेन्नई	१,०००/-
८.	श्रीमती रंजना प्रसाद	रायपुर	१,०००/-
९.	श्री जी.पी.एस. धिमीरे	काठमांडू	१,०००/-
१०.	डॉ० निवेदिता वक्शी	कुर्ला पं०मु०	१,०००/-
११.	श्री उमापद चौधरी	देवघर	१,०००/-
१२.	श्री शत्रुधन शर्मा	फतेहबाद	१,०००/-
१३.	श्री प्रभुनाथ सिंह	माने, बिहार	१,०००/-
१४.	श्री रामकृष्ण वर्मा	कोटा राजस्थान	१,०००/-
१५.	श्री कीर्त्यानन्द झा	पटना, बिहार	१,०००/-
१६.	श्री रामअवतार चौधरी	छपरा, बिहार	१,०००/-
१७.	डॉ. निधि श्रीवास्तव	जमशेदपुर	१,०००/-
१८.	श्री सतीश कुमार वंशल	दिल्ली	१,०००/-
१९.	श्री उदयवीर शर्मा	खंडवाया उ.प्र.	१,०००/
२०.	श्री आर. बी. देशमुख	पुणे	१,००१
२१.	कुमारी उषा हेगड़े	पुणे	१,०००/-
२२.	श्री राजकेश्वर राम	पटना, बिहार	१,०००/-
२३.	डॉ. (श्रीमती) नीलिमा सरकार	कोलकाता	१,०००/-
२४.	श्री एन.के. वर्मा	मुम्बई	१,०००/-
२५.	श्री अशोक राव	छिंदवारा	१,१००/-
२६.	श्री मोती लाल खेतान	पटना	१,०००/-
२७.	डॉ. प्रदीप कुमार बक्शी	कोलकाता	२,०००/-
२८.	डॉ. शरत् मेमन	मुम्बई	१,०००/-
२९.	श्री रामकृष्ण आश्रम	मैसूर	१,०००/-
३०.	श्रीमती छविराज सिंह	गाजीपुर	१,०००/-

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत

उठो जागो और लक्ष्य प्राप्त किए बिना विश्राम मत लो ।

विवेक-शिखा

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा की प्रमुख

हिन्दी मासिकी

वर्ष–२३ मार्च-अप्रैल–२००४ अंक–३-४

इष्टदेव का हृदय-कमल में रूप अनूप दिखा । निजानन्द में रखती अविचल विमल, 'विवेक शिखा' ॥

श्रीरामकृष्ण ने कहा है

1. अवतार मानो ईश्वर का कर्मचारी है–जैसे जमींदार और उसका नायब । जमींदार अपने अधिकार के प्रदेशों में से जहाँ भी कोई गड़बड़ हो वहीं अपने नायब को भेज देता है, उसी प्रकार संसार में जहाँ भी धर्महानि होने लगती है, उसे दूर करने के लिए ईश्वर वहीं अपने अवतार को भेज देते हैं।

2. अवतार को पहचान सकना बहुत कठिन है। यह मानो अनन्त का सान्त बनकर लीला करना है। जब भगवान् श्रीरामचन्द्र अवतीर्ण हुए थे, तब केवल बारह ऋषियों ने उन्हें पहचाना था कि वे अवतार हैं। भगवान जब अवतार ग्रहण करते हैं तब बहुत ही कम लोग उन्हें पहचान पाते हैं।

3. ईश्वर अनन्त हैं, परन्तु उनकी इच्छा हो तो वे मनुष्य के रूप में अवतीर्ण हो सकते हैं। अवतार के भीतर से ही हम ईश्वर की प्रेम-भक्ति का आस्वादन कर सकते हैं। वे अवतार ग्रहण करते हैं, इसका अनुभव होना चाहिए। यह बात उपमा के द्वारा नहीं समझाई जा सकती। गाय के सींग, पैर या पूँछ को छूने पर गाय को ही छूना हुआ। परन्तु हम लोगों के लिए तो दूध ही गाय का सार पदार्थ है। वह दूध गाय के थन से आता है। इसी तरह अवतार मानो गाय का थन है–ईश्वरीय प्रेम-भक्ति अवतार के ही भीतर से प्रकट होती है।

4. ईश्वर के प्रेम के समुद्र में डूब जाओ। इसमें डूबने से डरो मत, यह तो अमृत का समुद्र है। मैंने एक बार नरेन्द्र से कहा, 'ईश्वर रस के सागर हैं। क्या तुझे इस रस के समुद्र में डुबकी लगाने की इच्छा नहीं होती ? अच्छा, ऐसा सोच कि एक कटोरे में रस भरा है और तू मक्खी बना है, तब तू कहाँ बैठकर रस पीएगा ?' नरेन्द्र ने कहा, 'मैं कटोरे की किनार पर बैठकर मुँह बढ़ाकर रस पीऊँगा, क्योंकि ज्यादा बढ़ने पर गिरकर उसमें डूब मरूँगा।' तब मैं बोला, 'बेटा, सच्चिदानन्द-समुद्र में मरने का भय नहीं है। वह तो अमृत सागर है। उसमें डूबने से मनुष्य मरता नहीं, अमर हो जाता है। ईश्वर के प्रेम में मत्त होने से मनुष्य पागल नहीं हो जाता।

5. सच्चिदानन्द-वृक्ष पर गुच्छ के गुच्छ राम, कृष्ण आदि फले हुए हैं। समय-समय पर इनमें से एक-दो इस संसार में आकर कितनी बड़ी क्रान्ति कर जाते हैं।

6. यह नहीं कि भगवान् हमें भोजन देते हैं इसलिए वे दयामय हैं–पिता अपनी सन्तान को भोजन तो देगा ही। वास्तव में वे इसलिए दयामय हैं कि वे हमें कुपथ में जाने से बचाते हैं, मोह या प्रलोभन से हमारी रक्षा करते हैं। ❑

रामकृष्ण-वन्दना

–विदेह

–१–

(यमन-त्रिताल)

रामकृष्ण चरण, भज मन ।
जग जन पावन, ताप नसावन,
मोहक अनुपम चिन्मय सुन्दर ॥

नित्य निरंजन कलिमल भंजन,
साधन रंजन मधुमय सुखकर ॥ मोहक०

कलुष निवारण भवजल तारक,
संकट हारक अभिनव भास्वर ॥ मोहक०

ध्यावत अखिल असुर सुर मुनि नर,
पावत परम सिद्धि श्रेयष्कर ॥ मोहक०

–२–

(अहीरभैरव-कहरवा)

ठाकुर, तुम धरती पर आये,
अभिनव धर्ममार्ग दिखला कर,
जनमानस पर छाये ॥

छाया था घनघोर अँधेरा,
तुम आये तो हुआ सबेरा,
उदय हुआ रवि प्राची नभ में,
ज्योति फैलती जाये ॥

सुनकर वचनामृत का डंका,
भाग चली नास्तिकता शंका,
हो कृतकृत्य निहाल हुए सब,
मंगल कीरत गाये ॥

जग-जीवन में व्याप्त जटिलता,
जन-मन में दुख और विकलता,
पर तव कृपादृष्टि से सबने,
आत्मबोध सुख पाये ॥

कर्म और उसका चरित्र पर प्रभाव

–स्वामी विवेकानंद

मानव-जाति का चरम लक्ष्य ज्ञानलाभ है। प्राच्य दर्शनशास्त्र हमारे सम्मुख एकमात्र यही लक्ष्य रखता है। मनुष्य का अन्तिम लक्ष्य सुख नहीं, वरन् ज्ञान है; सुख और आनन्द का तो एक न एक दिन अन्त हो ही जाता है। अतः सुख को चरम लक्ष्य मान लेना भूल है। संसार में सब दुःखों का मूल यही है कि मनुष्य अज्ञानवश सुख को ही अपना लक्ष्य समझ लेता है। पर कुछ समय के बाद मनुष्य को यह बोध होता है कि जिसकी ओर वह जा रहा है, वह सुख नहीं वरन् वह ज्ञान है, तथा सुख और दुःख दोनों ही महान् शिक्षक हैं, और जितनी शिक्षा उसे शुभ से मिलती है उतनी ही अशुभ से भी। सुख और दुःख ज्यों-ज्यों आत्मा के सम्मुख होकर जाते हैं त्यों-त्यों वे उसके ऊपर अनेक प्रकार के चित्र अंकित करते जाते हैं। और इन चित्रों या संस्कारों की समष्टि के फल को ही मानव का 'चरित्र' कहा जाता है। यदि तुम किसी मनुष्य का चरित्र देखो, तो प्रतीत होगा कि वास्तव में वह उसकी मानसिक प्रवृत्तियों एवं मानसिक झुकाव की समष्टि ही है। तुम यह भी देखोगे कि उसके चरित्रगठन में सुख और दुःख, दोनों ही समान रूप से उपादानस्वरूप हैं। चरित्र को एक विशिष्ट ढाँचे में ढालने में शुभ और अशुभ, दोनों का समान अंश रहता है, और कभी-कभी तो दुःख सुख से भी बड़ा शिक्षक हो जाता है। यदि हम संसार के महापुरुषों के चरित्र का अध्ययन करें, तो मैं कह सकता हूँ कि अधिकांश महापुरुषों में हम यही देखेंगे कि सुख की अपेक्षा दुःख ने, तथा सम्पत्ति की अपेक्षा निर्धनता ने ही उन्हें अधिक शिक्षा दी है एवं प्रशंसा की अपेक्षा आघातों ने ही उनकी अन्तःस्थ ज्ञानाग्नि को अधिक प्रस्फुरित किया है।

अब, यह ज्ञान मनुष्यों में अन्तर्निहित है। कोई भी ज्ञान बाहर से नहीं आता, सब अन्दर ही है। हम जो कहते हैं कि मनुष्य 'जानता' है, उसे ठीक-ठीक मनोवैज्ञानिक भाषा में व्यक्त करने पर हमें कहना चाहिए कि वह 'आविष्कार करता' है। मनुष्य जो कुछ 'सीखता' है, वह वास्तव में 'आविष्कार करना' ही है। 'आविष्कार' का अर्थ है–मनुष्य का अनन्त ज्ञानस्वरूप आत्मा के ऊपर से आवरण को हटा लेना।

हम कहते हैं कि न्यूटन ने गुरुत्वाकर्षण का आविष्कार किया। तो क्या वह आविष्कार कहीं एक कोने में बैठा हुआ न्यूटन की प्रतीक्षा कर रहा था? नहीं, वह उसके मन में ही था। जब समय आया तो उसने उसे ढूंढ़ निकाला। संसार ने जो कुछ ज्ञानलाभ किया है, वह मन से ही निकला है। विश्व का असीम पुस्तकालय तुम्हारे मन में ही विद्यमान है। बाह्य जगत तो तुम्हें अपने मन के अध्ययन में लगाने के लिए उद्दीपक तथा सहायक मात्र है; परन्तु प्रत्येक समय तुम्हारे अध्ययन का विषय तुम्हारा मन ही रहता है। सेव का गिरना न्यूटन के लिए उद्दीपक कारणस्वरूप हुआ और उसने अपने मन का अध्ययन किया। उसने अपने मन में पूर्व से स्थित विचार शृंखला की कड़ियों को एक बार फिर से व्यवस्थित किया तथा उसमें एक नयी कड़ी का आविष्कार किया। उसी को हम गुरुत्वाकर्षण का नियम कहते हैं। यह न तो सेव में था और न पृथ्वी के केन्द्र में स्थित किसी अन्य वस्तु में ही।

अतएव समस्त ज्ञान चाहे वह व्यावहारिक हो अथवा पारमार्थिक, मनुष्य के मन में ही निहित है। बहुधा यह प्रकाशित न होकर ढका रहता है, और जब आवरण धीरे-धीरे हटता जाता है, तो हम कहते हैं कि 'हमें ज्ञान हो रहा

है'। ज्यों-ज्यों इस आविष्करण की क्रिया बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों हमारे ज्ञान की वृद्धि होती जाती है । जिस मनुष्य पर से यह आवरण उठता जा रहा है, वह अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक ज्ञानी है, और जिस मनुष्य पर यह आवरण तह पर तह पड़ा है, वह अज्ञानी है । जिस मनुष्य पर से यह आवरण बिलकुल चला जाता है, वह सर्वज्ञ पुरुष कहलाता है । अतीत में कितने ही सर्वज्ञ हो चुके हैं और मेरा विश्वास है कि अब भी बहुत से होंगे तथा आगामी युगों में भी ऐसे असंख्य पुरुष जन्म लेंगे । जिस प्रकार एक चकमक पत्थर के टुकड़े में अग्नि निहित रहती है, उसी प्रकार मनुष्य के हृदय में ज्ञान रहता है । उद्दीपक कारण घर्षण का कार्य करके उस ज्ञानाग्नि को प्रकाशित कर देता है । ठीक ऐसा ही हमारी समस्त भावनाओं और कार्यों के सम्बन्ध में भी है । यदि हम शान्त होकर स्वयं का अध्ययन करें, तो प्रतीत होगा कि हमारा हंसना-रोना, सुख-दुःख हर्ष- विषाद, हमारी शुभ कामनाएं एवं शाप, स्तुति और निन्दा, ये सब हमारे मन के ऊपर बहिर्जगत के अनेक घात-प्रतिघातों के फलस्वरूप उत्पन्न हुए हैं । और हमारा जो वर्तमान चरित्र है वह इसी का फल है । ये सब घात-प्रतिघात मिलकर 'कर्म' कहलाते हैं । आत्मा की आभ्यन्तरिक अग्नि तथा उसकी अपनी शक्ति एवं ज्ञान को बाहर प्रकट करने के लिए जो मानसिक अथवा भौतिक घात उस पर पहुँचाये जाते हैं, वे ही 'कर्म' हैं। । यहाँ 'कर्म' शब्द का उपयोग व्यापक रूप में किया गया है । इस प्रकार, हम सब प्रतिक्षण ही कर्म करते रहते हैं । मैं तुमसे बातचीत कर रहा हूँ–यह कर्म है; तुम सुन रहे हो–यह भी कर्म है, हमारा साँस लेना, चलना आदि भी कर्म है; जो कुछ हम करते हैं, वह शारीरिक हो अथवा मानसिक, सब कर्म ही है, और हमारे ऊपर वह अपने चिह्न अंकित कर जाता है ।

कुछ कार्य ऐसे भी होते हैं, जो मानो अनेक छोटे-छोटे कर्मों की समष्टि होते हैं । उदाहरणार्थ, यदि हम समुद्र के किनारे खड़े हों और लहरों को किनारे से टकराते हुए सुनें, तो ऐसा मालूम होता है कि एक बड़ी भारी आवाज हो रही है । परन्तु हम जानते हैं कि एक बड़ी लहर असंख्यात छोटी-छोटी लहरों से बनी है । और यद्यपि प्रत्येक छोटी लहर अपना शब्द करती है, परन्तु फिर भी वह हमें सुन नहीं पड़ता । पर ज्योंही ये सब शब्द आपस में मिलकर एक हो जाते हैं, त्योंही हमें बड़ी आवाज सुनायी देती है । इसी प्रकार हृदय की प्रत्येक धड़कन भी एक कार्य है । कई कार्य ऐसे होते हैं, जिनका हम अनुभव करते हैं, वे हमें इन्द्रियग्राह्य हो जाते हैं, पर साथ ही वे अनेक छोटे-छोटे कार्यों की समष्टि होते हैं । यदि तुम सचमुच किसी मनुष्य के चरित्र को जाँचना चाहते हो, तो उसके बड़े कार्यों पर से उसकी जाँच मत करो । एक मूर्ख भी किसी विशेष अवसर पर बहादुर बन जाता है । मनुष्य के अत्यन्त साधारण कार्यों की जाँच करो, और असल में वे ही ऐसी बातें हैं, जिनसे तुम्हें एक महान पुरुष के वास्तविक चरित्र का पता लग सकता है । आकस्मिक अवसर तो छोटे-से-छोटे मनुष्य को भी किसी-न-किसी प्रकार का बड़प्पन दे देते हैं । परन्तु वास्तव में महान् तो वही है, जिसका चरित्र सदैव और सब अवस्थाओं में महान् तथा समान रहता है ।

मनुष्य का जिन सब शक्तियों के साथ सम्बन्ध आता है, उनमें से कर्म की शक्ति सबसे अधिक प्रबल होती है, जो मनुष्य के चरित्रगठन पर प्रभाव डालती है । मनुष्य तो एक प्रकार का केन्द्र है, और वह संसार की समस्त शक्तियों को अपनी ओर खींच रहा है, तथा इस केन्द्र में उन सारी शक्तियों को आपस में मिलाकर उन्हें फिर एक बड़ी तरंग के रूप में बाहर भेज रहा है । यह केन्द्र ही 'प्रकृत मानव'–आत्मा है; यह सर्वशक्तिमान तथा सर्वज्ञ है, और समस्त विश्व को अपनी ओर खींच रहा है । शुभ-अशुभ, सुख-दुःख सब उसकी ओर दौड़े जा रहे हैं, और जाकर उसके चारों ओर मानो लिपटे जा

रहे हैं, और वह उन सब में से प्रवृत्ति की उस प्रबल धारा को बनाता है, जिसे 'चरित्र' कहते हैं, और उसे बाहर भेजता है । जिस प्रकार किसी चीज को अपनी ओर खींच लेने की उसमें शक्ति है, उसी प्रकार उसे बाहर भेजने की भी शक्ति उसमें है ।

संसार में हम जो सब कार्यकलाप देखते हैं, मानवसमाज में जो सब गति हो रही है, हमारे चारों ओर जो कुछ हो रहा है, वह सब मन की ही अभिव्यक्ति है—मनुष्य की इच्छाशक्ति का ही प्रकाश है । अनेक प्रकार के यन्त्र, नगर, जहाज, युद्धपोत आदि सभी मनुष्य की इच्छाशक्ति के विकास मात्र है । मनुष्य की यह इच्छाशक्ति चरित्र से उत्पन्न होती है और वह चरित्र कर्मों से गठित होता है । अतएव जैसा कर्म होता है, इच्छाशक्ति की अभिव्यक्ति भी वैसी ही होती है । संसार में प्रबल इच्छाशक्ति सम्पन्न जितने महापुरुष हुए हैं, वे सभी धुरन्धर कर्मी-दिग्गज व्यक्ति थे । उनकी इच्छाशक्ति ऐसी जबरदस्त थी कि वे संसार को भी उलट-पुलट कर सकते थे । और यह शक्ति उन्हें युग-युगान्तर तक निरन्तर कर्म करते रहने से प्राप्त हुई थी । बुद्ध या ईसा मसीह में जैसी प्रबल इच्छाशक्ति थी वह एक जन्म में प्राप्त नहीं की जा सकती, और उसे हम आनुवंशिक संक्रमण नहीं कह सकते, क्योंकि हमें ज्ञात है कि उनके पिता कौन थे । हम नहीं कह सकते कि उनके पिता के मुँह से मनुष्य जाति के कल्याण के लिए शायद कभी एक शब्द भी निकला हो । 'जोसेफ' (ईसा मसीह के पिता) के समान तो लाखों और करोड़ों बढ़ई हो गये और आज भी हैं; बुद्ध के पिता के सदृश लाखों छोटे-छोटे राजा हो चुके हैं । अत: यदि वह बात केवल आनुवंशिक संक्रमण के ही कारण हुई हो, तो इसकी व्याख्या कैसे कर सकते हो कि इस छोटे से राजा ने, जिसकी आज्ञा का पालन शायद उसके स्वयं के नौकर भी नहीं करते थे, एक ऐसा पुत्र उत्पन्न किया जिसकी उपासना लगभग आधा संसार करता है ? इसी प्रकार, जोसेफ नामक बढ़ई तथा संसार में लाखों लोगों द्वारा ईश्वर के समान पूजे जाने वाले उसके पुत्र के बीच जो अन्तर है, उसकी क्या व्याख्या हो सकती है ? आनुवंशिक संक्रमण के सिद्धान्त के द्वारा तो इसका स्पष्टीकरण नहीं हो सकता । बुद्ध और ईसा इस संसार में जिस महान् संकल्प शक्ति का संचार कर गये, वह कहाँ से आयी ? इतनी शक्ति का संचय कैसे हुआ ? अवश्य ही युग-युगान्तरों से उस स्थान में रही होगी, और क्रमशः बढ़ते-बढ़ते अन्त में बुद्ध तथा ईसा के रूप में उसका विस्फोट समाज पर हुआ और तब से वह आज तक प्रवाहित हो रही है ।

❑

❑ देहबोध के रहते मैं भगवान का दास हूँ, जीवबोध होने पर उनका अंश और आत्मबोध हो जाने पर मैं वही हूँ ।

❑ सूखी लकड़ी मूर्खों की तरह होती है, वह टूट जाती है, पर नमती नहीं ।

❑ यदि भवसागर पार होना हो तो विषयवासना छोड़ दो ।

❑ कौन जीवित रहते हुए भी मृत है ?—जो उद्यमहीन है वह ।

❑ तुम्हारा बोझ दूसरा व्यक्ति उतार दे सकता है, परन्तु भूख लगने पर खाना तो तुम्हें स्वयं खाना पड़ेगा, दूसरे किसी के खाने से नहीं चलेगा ।

(विवेकचूड़ामणि, ५४)

मंत्रदीक्षा के लिए तैयारी

–स्वामी भूतेशानन्द

(बहुधा मंत्रदीक्षा को मात्र एक अनुष्ठान समझ लिया जाता है, परन्तु जन्म, मृत्यु, विवाह आदि के समान ही मंत्रदीक्षा भी जीवन की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना है, अतः इसे अत्यन्त गम्भीरता से लेना आवश्यक है । जिस प्रकार अच्छी तरह जुती तथा तैयार भूमि में बीज बोने से ही अच्छी फसल की आशा की जा सकती है, उसी प्रकार दीक्षा का सर्वाधिक लाभ उठाने के लिए मन की कैसी तैयारी आवश्यक है, यही प्रस्तुत आलेख में स्पष्ट किया गया है । मिशन के सिलहट आश्रम में ८ अगस्त १९९५ को रामकृष्ण मठ तथा मिशन के तत्कालीन परमाध्यक्ष महाराज ने एक अत्यन्त उपयोगी भाषण दिया था, जो 'उद्बोधन' मासिक के जुलाई १९९९ के अंक में प्रकाशित हुआ । स्वामी निर्विकारानन्द जी ने इसका हिन्दी अनुवाद किया है ।–सं०)

बहुत-से लोगों को दीक्षा लेने की अभिलाषा होती है, परन्तु कुछ बातें ऐसी हैं, जिनकी जानकारी रहने पर दीक्षा आपके जीवन में ज्यादा फलदायी हो सकेगी । अतः हम चाहते हैं कि दीक्षा लेने के पूर्व आपका श्रीरामकृष्ण, माँ श्री सारदा देवी और स्वामी विवेकानन्द के जीवन तथा उपदेशों के साथ कम-से-कम थोड़ा-सा परिचय अवश्य हो चुका हो । किसी के दीक्षा माँगने पर, हम उसे तैयारी करने को और बिना-तैयारी आ जाने पर थोड़ी प्रतीक्षा करने को कहते हैं । पूरी तैयारी के बाद ही दीक्षा के लिए आने की सलाह दी जाती है । यह तैयारी रहने पर हमारा कार्य आसान हो जाता है और हमारी बातें समझने में सुविधा होती है ।

शास्त्रों के नियमानुसार जो लोग दीक्षा की कामना से गुरु के पास जाते हैं, उनके जीवन में कितनी तैयारी आवश्यक है, इसके दृष्टान्त के रूप में एक घटना का उल्लेख किया जा सकता है । नारद मुनि दीक्षा पाने को भगवान सनत्कुमार के पास गये । सनत्कुमार ने कहा, 'पहले बताओ कि तुम क्या जानते हो, उसके बाद सोचूँगा कि तुम्हें क्या उपदेश दिया जाय ।' नारदजी जो कुछ जानते थे, जितने शास्त्र उन्होंने पढ़े थे, उन सबकी एक लम्बी सूची बता दी । उस सूची में कोई भी प्रमुख शास्त्र छूटा नहीं था । सारे शास्त्रों का अध्ययन करके ही वे सनत्कुमार के पास आये थे । उन्होंने कहा, 'मैंने ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद और षड् वेदाङ्ग के सब ग्रन्थ पढ़े हैं । परन्तु उतना सब पढ़ने के बाद भी मेरे मन में शान्ति नहीं है । मैं सन्तुष्ट नहीं हूँ । मेरे भीतर सर्वदा एक असन्तोष बना रहता है । ऐसा दुःख बना रहता है, मानो कुछ अपूर्ण रह गया हो और जिसके कारण मैं अपने जीवन में शान्ति नहीं पा रहा हूँ ।' सनत्कुमार ने कहा, 'नारद, तुम जो कुछ जानते हो, वह सब तो तुमने बता दिया, शास्त्रों की लम्बी सूची प्रस्तुत कर दी; परन्तु जिसे तुम जानते हो, वह सब शब्द मात्र हैं । तुम शब्दविद् हो, परन्तु तुम अपने आप को नहीं जानते, तुम आत्मविद् नहीं हो । जो आत्मविद् होता है, वह शोक से छुटकारा पा जाता है । तुम आत्मविद् न होने के कारण ही शोक से आच्छन्न हो ।' तत्पश्चात् नारद ने विनम्रता के साथ कहा, 'हे भगवन्, आप मुझे वही उपदेश दीजिए, जिससे मैं शोक के हाथों से छुटकारा पा सकूँ ।'

इससे हमें क्या शिक्षा मिलती है ? इससे समझ में आता है कि दीक्षा लेने के पहले व्यक्ति को मनरूपी जमीन तैयारी करनी चाहिए । जमीन तैयार किये बिना ही यदि हम बीज बो दें, तो वह व्यर्थ चला जायेगा । अतः पहले खाद आदि डालकर जमीन तैयार कर लेनी चाहिए और ऐसा किये बिना ही यदि हम बीज बो दें, तो उसमें भला अच्छी फसल कैसे हो सकती है ? इसलिए हमें इस बात का ध्यान रखना होगा कि दीक्षा के लिए तैयारी आवश्यक है ।

एक बात मुझे और कहनी है और वह यह कि इस तैयारी का कोई अन्त नहीं है । मनरूपी इस जमीन की तैयारी का तात्पर्य यह है कि

अशुद्ध मन से काम नहीं होगा; सदाचार, विनय, श्रद्धा तथा निष्ठा-इन सब की सहायता से जमीन तैयार करनी होगी । यदि भगवन्नाम लेने की ठीक-ठीक इच्छा हो, तो फल भी अद्भुत होगा । श्रीरामकृष्ण एक उदाहरण देते हैं–सीपी अपना मुँह खोले स्वाति नक्षत्र के जल की एक बूँद के लिए प्रतीक्षा करती रहती है । उसे पाने के बाद वह अपना मुँह बन्द करके पानी के नीचे चली जाती है और एकान्त में मोती तैयार करती है । मन्त्रदीक्षा ही स्वाति नक्षत्र के जल की वह बूँद है । मन्त्रदीक्षा लेने के पहले इसी प्रकार की इच्छा के साथ सीपी के समान हृदय खोलकर तत्त्वप्राप्ति के लिए प्रतीक्षा करनी होगी, तभी जीवन में मन्त्र लेना सार्थक होगा ।

हम सर्वदा, और दीक्षा के समय तो विशेष रूप से कहते हैं कि श्रद्धा-भक्ति के बिना दीक्षा की कोई सार्थकता नहीं है । अतः हमें श्रद्धावान होना होगा और तभी वह बीज फल-फूल कर सुशोभित वृक्ष में परिणत होगा । इसीलिए याद रहे कि दीक्षा के लिए पूर्व तैयारी परम आवश्यक है । वस्तुतः तैयारी के बिना इससे कोई लाभ नहीं होगा । शास्त्रों में कहा गया है कि दीक्षार्थी को गुरु की कृपा पाने हेतु, अपना जीवन शुद्ध-पवित्र बनाकर और सेवाभाव, विनय तथा अहैतुकी भक्ति के साथ उनके पास जाना चाहिए । शास्त्रों में इतनी तैयारी की बात इसलिए कही गयी है कि जिस समय हमें भगवान का नाम दिया जाता है, वह हमारे जीवन का एक अमूल्य क्षण होता है । यदि हम उसी नाम को प्रेमपूर्वक हृदय में धारण करके, उसी में मन को एकाग्र करके सीपी की भाँति गहराई में डूब सकें, तो हमारे भीतर परम रत्न तैयार हो जायेगा । श्रीरामकृष्ण के उपदेशों से हमें यही शिक्षा मिलती है । गीता में भी कहा गया है–

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥१८/६७

–जिसने तपस्या न की हो, जो भक्त नहीं है, जो सुनने का इच्छुक नहीं है तथा जो सेवापरायण नहीं है, उसे यह तत्त्व नहीं देना चाहिए । और ईश्वर के प्रति द्वेषभाव रखते हों, उन्हें भी यह तत्त्व नहीं देना चाहिए ।

ऐसे लोगों को वंचित क्यों किया जाता है ? इसलिए कि उनकी जमीन तैयार नहीं हुई है । वस्तुतः जमीन तैयार होने पर ही भगवान के नाम में अनुराग आता है । यह बात दीक्षार्थियों तथा दीक्षित भक्तों को विशेष रूप से स्मरण रखनी होगी । इसीलिए शास्त्रों ने हमें विनयी तथा सेवाभावी होने और यथासम्भव पवित्र रहने की सलाह दी है । अनेक लोगों के मन में तो उल्टी ही धारणा है । वे सोचते हैं कि दीक्षा लेने से ही उनका शरीर-मन शुद्ध हो जायेगा । यह एक भ्रान्त धारणा है । दीक्षा पाते समय उसे धारण करने हेतु हमारे लिए अपने हृदय को पवित्र करना परम आवश्यक है । मन्दिर तथा उसके आसपास सफाई करके ही उसमें भगवान की स्थापना की जाती है । मंत्र ग्रहण करने का तात्पर्य है–जीवन में भगवान की स्थापना । और उसी के लिए इन सब तैयारियों की जरूरत है । इस तैयारी की उपेक्षा करने पर हमारे हृदय में भगवान की स्थापना नहीं हो सकती।

भक्त लोग कभी-कभी अपने दस-बारह साल या उससे भी कम उम्र के बच्चों को दीक्षा दिलाने का अनुरोध करते हैं, परन्तु हम छोटे बच्चों को दीक्षा देना नहीं चाहते । हमारे मना करने पर वे लोग दुखी होते हैं और इसके लिए बारम्बार आग्रह करते रहते हैं । इसका कारण यह है कि वे दीक्षा का उद्देश्य नहीं समझते । क्या ये छोटे बच्चे दीक्षा के लिए तैयार हैं ? क्या उनके मन में इस विषय को समझने की क्षमता है ? ऐसी दीक्षा तो बच्चों के खेल जैसी है । सम्भव है कि कुछ लोग सच्ची श्रद्धा के साथ आग्रह करते हों, परन्तु वे लोग दीक्षा के महत्त्व, तात्पर्य तथा गम्भीरता के विषय में भलीभाँति अवगत नहीं हैं, इसीलिए ऐसा करते हैं । दीक्षा लेने का भी एक उपयुक्त समय

होता है । जब मन दीक्षा के लिए व्याकुल हो, तब समझ लेना चाहिए कि मुझमें मंत्र पाने की पात्रता आ गयी है । इस बात को याद रखने में ही भलाई है ।

दीक्षा जीवन की एक महत्त्वपूर्ण घटना है, अतः दीक्षा के विषय को बड़ी गम्भीरता से लेना होगा । केवल दीक्षार्थियों के लिए ही नहीं, बल्कि सबके प्रति मेरा कहना है कि दीक्षा कहीं मात्र प्रतिष्ठा का चिह्न न बन जाय । स्मरण रखना होगा कि दीक्षा ईश्वर-प्राप्ति का माध्यम है । जो लोग दीक्षा लेने आते हैं, उनके हृदय में गम्भीरता रहना आवश्यक है । नहीं तो, सम्भव है कि गुरुजी कुछ उपयोगी निर्देश दे रहे हों, परन्तु दीक्षार्थी लोग इस ओर ध्यान न देकर कुछ और ही सोच रहे हों । स्पष्ट है कि उनके मन में दीक्षा के महत्त्व की ठीक धारणा नहीं हो सकी है । यह सब मैं इसलिए कह रहा हूँ कि दीक्षा के सम्बन्ध में एक गम्भीरता का भाव रखना आवश्यक है। दीक्षा जीवन की एक महत्त्वपूर्ण घटना है, यह बात भूल जाने पर इसकी सार्थकता सिद्ध नहीं हो सकेगी । अनेक बार हमें मजबूरी में प्रतिकूल परिस्थितियों के बीच से होकर चलना पड़ता है । इन्हें अवश्य दूर करना होगा, परन्तु इसके लिए इच्छा तथा मनोबल कहाँ से मिलेगा ? पूरी तैयारी के साथ दीक्षा लेने पर, दीक्षा से ही वह शक्ति मिल जाती है ।

एक बात और याद रखने की है कि दीक्षा पाने के बाद हमारा आचरण भी दीक्षा के अनुरूप होना चाहिए । दीक्षा के समय हम पाँच प्रकार के आचरण की बात कहते हैं । ये बातें कोई गोपनीय नहीं हैं । सभी के लिए इन्हें जानना आवश्यक है । आचरण यदि शुद्ध नहीं होगा, तो भगवान की ओर नहीं जा सकोगे । अतः भगवान की ओर जाने के लिए आचरण शुद्ध होना जरूरी है । हम बहुधा सुनते हैं कि हमारे लिए शुद्ध आहार आवश्यक है । शुद्ध आहार से क्या तात्पर्य है ? क्या पर्याप्त घी डालने से आहार शुद्ध हो जायेगा ? ऐसी बात नहीं है, बल्कि शरीर के लिए उपयोगी सात्त्विक आहार को शुद्ध आहार कहते हैं । शास्त्रों में ऐसा ही बताया गया है । जो भोजन शरीर तथा मन के पोषण के लिए उपयोगी हो, उसे यथेष्ट मात्रा में ग्रहण करना होगा । तात्पर्य यह कि हमें लोभवश नहीं, बल्कि इसलिए खाना है कि यह भोजन हमारे तन-मन को पुष्ट करेगा और ऐसे पुष्ट शरीर-मन को हम भगवच्चिन्तन में लगायेंगे । इसी बात का ध्यान में रखकर भोजन ग्रहण करना होगा । यह नहीं खाना, वह नहीं खाना-आहार शुद्धि नहीं है । सीमित मात्रा में ऐसे पदार्थों को खाना, जिससे हमारा तन-मन पुष्ट हो-इसी को आहारशुद्धि कहते हैं ।

आहारशुद्धि से भी अधिक महत्त्व आचरण-शुद्धि का है । इन्हीं पाँच आचरणों की बात हम कहने जा रहे हैं–

१. हमें सबके कल्याण की कामना करनी चाहिए; कभी कोई ऐसा कार्य या किसी के साथ ऐसा व्यवहार नहीं करना चाहिए, जिससे उसका अनिष्ट हो या उसके शरीर-मन को क्षति पहुँचे । शास्त्र अहिंसा की बात कहते हैं । अहिंसा का अर्थ है–किसी के शरीर तथा मन को कष्ट न देना; किसी का अहित न सोचना तथा किसी को हानि न पहुँचाना । तन, मन तथा वाणी से इन सबका पालन करना चाहिए ।

२. सत्य को सर्वदा पकड़े रहना होगा; इस प्रकार पकड़े रखना होगा कि किसी भी परिस्थिति में हम सत्य से विचलित न हों । ध्यान रहे कि हम कभी भी झूठ का सहारा न लें और कोई वचन देने पर उसे अवश्य पूरा करें । श्रीरामकृष्ण कहते हैं कि सत्य बोलना कलियुग की तपस्या है । वे और भी कहते हैं कि जो व्यक्ति सत्य को पकड़े रहता है, वह मानो भगवान की गोद में सोया रहता है । ऐसी बात नहीं है कि सत्य का पालन बड़ा आसान हो । सत्य के लिए हमें अपने जीवन में बहुत-सा त्याग स्वीकार करना

पड़ता है। यह सहज नहीं है, तथापि हम यह न भूलें कि यही हमारे जीवन का आदर्श है।

३. हम किसी के साथ किसी प्रकार की धोखाधड़ी या ठगी न करें। किसी को धोखा देकर कुछ हासिल न करें। दूसरों से हम उतना ही लें, जितना न्यायसंगत हो। लोगों के साथ व्यवहार की यह सच्चाई साधना में सहायक है।

४. हमें अपनी इन्द्रियों द्वारा परिचालित न होकर, उन्हें अपने वश में रखना होगा। हमें केवल एक या दो नहीं, बल्कि समस्त इन्द्रियों का संयम करना होगा। यह भी साधन-पथ के लिए अत्यन्त उपयोगी है।

५. हमारे इस जीवन का उद्देश्य ईश्वर का स्मरण या उनकी प्राप्ति है। हमारा जीवन-यापन सहज, सरल तथा स्वाभाविक हो। हमारी प्रवृत्ति विलासिता की ओर न हो। मेरा तात्पर्य यह नहीं है कि सभी लोग भिखारियों के समान कपड़े पहनें या दीन-हीन भाव से रहें। हमें केवल इतना ही देखना होगा कि कम-से-कम कितनी चीजों से हमारा काम चल सकता है। किसी चीज के प्रति हममें लोभ न हो। हजार रुपये महीने कमानेवाला सोचता है कि पाँच हजार की आय होने से अच्छा हो, पाँच हजार कमानेवाला दस हजार की कामना करता है, दस हजार कमानेवाला लाख रुपये महीने चाहता है, लाख वाला करोड़ की चाह रखता है। इस प्रकार हमारी इच्छाएँ क्रमशः बढ़ती चली जाती हैं और ये निरन्तर बढ़ती हुई इच्छाएँ हमारे मन को चंचल बनाये रखती हैं। इसीलिए मन को संयमित करने की सलाह दी गयी है। दुनिया की सारी धन-दौलत पाकर भी कोई सन्तुष्ट नहीं हुआ, क्योंकि मन का स्वभाव ही ऐसा है। जिसे जितना मिल जाता है, वह उतना ही अधिक चाहता है। जैसे अग्नि में घी डालने से वह और भी प्रबल रूप से जलने लगती है, वैसे ही हम जितनी ही अधिक योग्य वस्तुओं का संग्रह करेंगे, उसी अनुपात में हमारी इच्छाएँ बढ़ती चली जायेंगी। ये कामनाएँ ही मनुष्य को अशान्त तथा भ्रमित किये रहती हैं।

बहुत-से लोग कहते हैं—हमें शान्ति चाहिए। हमारा कहना है कि मन में कोई कामना मत रखो, तो शान्ति अपने आप ही आ जायेगी। कामना रहने से ही अशान्ति उत्पन्न होती है, क्योंकि संसार में हम इतने प्रकार की कामनाओं को पालते हैं, जिन्हें पूरा करना कभी सम्भव नहीं हो सकता। इसी कारण मन में शान्ति नहीं आती। हमें शान्ति इसलिए नहीं मिलती, क्योंकि हमारे मन में जो इच्छाएँ हैं, वे पूरी नहीं होती और उन्हें पूरा करना भी आसान नहीं है। एक इच्छा के पूरी होते-न-होते दस नयी इच्छाएँ पैदा हो जाती हैं। जिनके पास रहने-खाने की व्यवस्था है, वे सोचते हैं कि क्या मैं केवल रहने-खाने के लिए ही पैदा हुआ हूँ? मुझे गाड़ी भी चाहिए! इसके बिना जीवन का भोग भला कैसे हो सकता है? और दूसरी ओर जिनके पास जीवन की समस्त भोग्य वस्तुएँ उपलब्ध हैं, प्रायः उनका स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता, अतः वे सब कुछ होने पर भी भोग नहीं कर पाते। इसलिए कामनाओं की पूर्ति कभी सम्भव नहीं है। पुराणों में एक कथा आयी है। राजा ययाति अनेक वर्षों तक सभी प्रकार की कामनाओं का भोग करते रहें। यौवन बीत जाने पर उन्होंने पाया कि उनमें अब भोग करने की क्षमता नहीं बची है, परन्तु भोग करने की कामना अब भी अत्यन्त प्रबल है। और कोई उपाय न देखकर उन्होंने भगवान से प्रार्थना की। वे प्रकट होकर बोले - 'तुम्हारा यौवन तो अब समाप्त हो चुका है। अब यदि तुम्हारे पुत्र तुम्हें अपना यौवन दे दें, तभी तुम पुनः भोग कर सकोगे।' उन्होंने अपने सभी पुत्रों को बुलाकार पूछा कि उनमें से कौन उन्हें अपना यौवन देने को तैयार है। पुरु नामक उनके सबसे छोटे पुत्र को छोड़कर कोई भी इसके लिए राजी नहीं हुआ। राजा यायाति उसे लेकर फिर से भोग में डूब गये। खुद का यौवन तो गया ही, पुत्र

का यौवन लेकर भी भोग किया । इसके बाद उनके मन में आया कि इतने दिनों तक तो भोग किया, परन्तु मेरी कामना तो घटने के स्थान पर बढ़ती ही जा रही है । जैसे अग्नि में घी डालने पर वह और भी जोर से जलने लगती है, वैसे ही भोग्य वस्तुएँ भी हमारी कामनाओं को केवल बढ़ाती हुई हमारी अशान्ति में वृद्धि ही करती रहती हैं ।

यही मनुष्य का जीवन है । हम शान्ति चाहते हैं, सोचते हैं कि भगवान को पुकारने में ही शान्ति है और उन्हें पुकारने लगते हैं, परन्तु हमारा यह पुकारना केवल भोग्य वस्तुओं को पाने के लिए ही होता है । भगवान यदि हमें खूब धन-सम्पदा दे दें और हम यदि सगे-सम्बन्धियों के साथ सुखपूर्वक रह सकें, तो भगवान बड़े अच्छे हैं और यदि हमारे जीवन में घोर संकट आ जाय, तो भगवान बुरे हैं । यदि परिवार में किसी युवक की मृत्यु हो गयी या कोई विपत्ति आ गयी, तो लोग सोचते हैं कि यह सब भगवान का कृत्य है और कहते हैं कि उन्होंने यह क्या किया ! तब भगवान अच्छे नहीं रह जाते । हमारा भगवान को पुकारने का कारण है कि वे हमारी कामनाओं को पूरा करेंगे और ऐसा न होने पर हमारी भक्ति का लोप हो जाता है । इस प्रकार भगवान को पुकारने से शान्ति नहीं आती । उनके चरणों में आत्मसमर्पण करने से ही शान्ति आती है । वे चाहे सुखी रखें या दुखी, अच्छा करें या बुरा—सभी अवस्थाओं में उन्हीं की इच्छा को हितकर मानकर स्वीकार करना होगा । और सुख या दुख, चाहे जो भी आये, उसको उन्हीं का दिया समझकर शिरोधार्य करना होगा । मृत्यु भी आ जाय, तो शरणागत भक्त के मन में, उससे डरने की जगह, उसे स्वीकार करने, वरण करने तथा उससे दुखी न होने का भाव आयेगा। शास्त्र भी यही कहते हैं कि शरणागति होने पर शान्ति आती है । भगवान को चाहनेवाले की दृष्टि में संसार की सारी भोग्य वस्तुएँ तुच्छ हो जाती हैं । भगवान का नाम लेते-लेते उसका मन उन्हीं में इतना तन्मय हो जाता है कि अन्य सभी वस्तुओं के प्रति उसका आकर्षण घट जाता है । उदाहरण के लिए यदि किसी को कोई बहुमूल्य रत्न मिल जाय, तो वह छोटी-मोटी चीजों की ओर देखेगा तक नहीं, क्योंकि सर्वश्रेष्ठ भोग्य वस्तु उसके पास है । रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपनी 'पारसमणि' कविता में एक सुन्दर घटना का उल्लेख किया है—एक गरीब ब्राह्मण ने धन प्राप्ति की आशा में शिव की आराधना की । शिव ने कहा, 'वृन्दावन चले जाओ । वहाँ सनातन गोस्वामी रहते हैं । उनसे धन पाने का उपाय पूछ लेना ।' ब्राह्मण अपनी निर्धनता दूर करने की इच्छा से सनातन गोस्वामी के पास जा पहुँचा । सनातन ने कहा, 'नदी के किनारे इस बालू में पारस मणि गड़ी हुई है,उसे निकालकर ले जाओ । इससे तुम्हारे पास अनन्त सम्पत्ति हो जायेगी और तुम्हारा अभाव दूर हो जायेगा ।' ब्राह्मण ने तत्काल बालू को खोदकर पारस मणि को निकाल लिया । पारस मणि का स्पर्श होते ही उसके शरीर पर बँधी हुई ताबीज सोने की हो गयी । इस पर ब्राह्मण ने विस्मित होकर सोचा कि इतनी सम्पत्ति रहने पर भी सनातन गोस्वामी कैसे निर्विकार हैं ! उन्होंने गोस्वामी के समीप जाकर कहा, 'जिस अमूल्य धन के अधिकारी होने के कारण आप इस रत्न को भी तुच्छ मानते हैं, क्या उसी का कुछ भाग मुझे भी देने की कृपा करेंगे ?' इतना कहकर ब्राह्मण ने उस मणि को नदी में फेंक दिया ।

श्रीमद्भागवत (११/२/५३) में भी कहा गया है—

त्रिभुवन-विभव-हेतवेऽप्यकुण्ठ—
स्मृति-रजितात्म-सुरादिभिर्विमृग्यात् ।
न चलति भगवत्पदारविन्दाल्लव—
निमिषार्धमपि यः स वैष्णवाग्र्यः ॥

—उसी कोश्रेष्ठ भक्त कहा जाता है, जिसके पास त्रिभुवन का सारा ऐश्वर्य रहने पर एक क्षण के लिए भी ऐश्वर्य का आकर्षण उसके

मन को ईश्वर के चरणों से च्युत नहीं करता । भगवान को पाकर वह इतना आनन्दविभोर हो जाता है कि संसार का सारा ऐश्वर्य, सम्पूर्ण धन उसके समक्ष तुच्छ हो जाता है ।

संसार के प्रति होनेवाला यह जो तुच्छता का बोध है, यह संसार में जल-भुनकर होनेवाला वैराग्य नहीं है, बल्कि ईश्वर के प्रति आकर्षण का आनन्द इतना तीव्र हो जाता है कि उसे बाकी चीजें तुच्छ प्रतीत होने लगती हैं । श्रीरामकृष्ण कहते हैं–'चुम्बक लोहे को खींचता है । लोहा एक जगह पड़ा है और उसके दोनों तरफ दो चुम्बक हैं–एक छोटा और दूसरा बड़ा । अब कौन-सा चुम्बक लोहे को अपनी ओर खींचने में समर्थ होगा ? निश्चय ही बड़ा चुम्बक । भगवान सबसे बड़े चुम्बक हैं । उनका आकर्षण अदम्य है । उनका आकर्षण जब समझ में आ जाता है, तब संसार की कोई भी वस्तु हमारे मन को आकर्षित नहीं कर सकती, कोई भी चीज हमें उनके चरणों से विचलित नहीं कर सकती। इसी लक्षण से जाँच किया जा सकता है कि हम भगवत्पथ पर ठीक-ठीक अग्रसर हो रहे हैं या नहीं। यदि भगवान को चाहते हैं और साथ ही संसार की सारी सुख-सम्पदा भी चाहते हैं, तो समझ लेना चाहिए कि हम सच्चे हृदय से भगवान को नहीं चाहते ।

सामान्यतः लोग ईश्वर को इसलिए चाहते हैं कि वे उन्हें धन, सुख तथा ऐश्वर्य प्रदान करेंगे, परन्तु वे ईश्वर के लिए ही ईश्वर को नहीं चाहते । वस्तुतः धन-सम्पदा हमारी असली कामना है और ईश्वर उसकी प्राप्ति का माध्यम मात्र है । यदि उस ईश्वररूपी माध्यम से हमें वह सब न मिले, तो हम उन्हीं को छोड़ देंगे । ऐसा कभी नहीं हो सकता कि भगवान केवल सुख-ही-सुख दें;दुख, निर्धनता तथा संकट आदि भी उन्हीं से प्राप्त होते हैं । सुख के समय भक्त उन्हें भूल जाता है और दुःख के समय उनका स्मरण करता है । सामान्य लोग दुःख के समय रोना-पीटना करते हैं, परन्तु भक्त दुःख की घड़ियों में भगवान को और जोर से पकड़ता है । सुख के समय ही उसे भगवान का अधिक स्मरण होता है । कुन्ती का जीवन हमें ज्ञात है । उनका सारा जीवन दुखमय ही रहा–पहले वे अपने पति के साथ वनों में घूमती रहीं और बाद में पति की मृत्यु हो जाने पर वे अपने बच्चों को लेकर हस्तिनापुर चली आयीं । बड़े होकर उनके पुत्रों को राज्य मिलने पर भी, कौरवों के षडयंत्र के कारण उन्हें राज्य से निर्वासित होना पड़ा । वे लोग निःसम्बल होकर माँ के साथ वनों में घूमते रहे । इस प्रकार कुन्ती का जीवन विपत्तियों में ही बीत रहा था। तभी पाण्डवों को दीर्घ वनवास तथा अज्ञातवास के लिए जाना पड़ा और उसके बाद ही कुरुक्षेत्र का युद्ध शुरू हो गया । युद्ध में विजय के बाद कृष्ण विदा लेने कुन्ती के पास आये । तब उन्होंने उनसे कहा, 'भगवान्, जब मैं सुख में रहती हूँ, तब तुम्हें भूली रहती हूँ । विपत्ति के क्षणों में ही तुम्हारा स्मरण रहता है; अतः तुम मुझे दुख-कष्ट में ही रखना, ताकि मैं सर्वदा तुम्हें स्मरण करती रहूँ ।' कितना विशाल हृदय होने पर ही व्यक्ति भगवान से इस प्रकार दुख माँग सकता है ! हम यह न भूलें कि इस प्रकार की प्रार्थना कठिन हो सकती है, परन्तु आदर्श यही है ।

हम मुख से तो ईश्वर का नाम लेते हैं और साथ ही जागतिक वस्तुओं को लेकर मत्त भी रहते हैं । हमें उन्हीं को चाहना होगा, क्योंकि वे ही सभी परिस्थितियों में हमारे परम हितकारी हैं, हमारे जीवन के सर्वस्व हैं, हमारी अन्तरात्मा हैं और हमारा परम स्वरूप हैं । व्यक्ति अपने आपसे ही सर्वाधिक प्रेम करता है अर्थात् आत्मा से प्रेम करता है । अपनी आत्मा प्रिय होने के कारण ही वह अन्य वस्तुओं से प्रेम करता है । असल में मनुष्य आत्मा से ही प्रेम करता है, इसीलिए भगवान को आत्मा-की-आत्मा कहा गया है । हम उन्हें किसी अन्य कारण से नहीं, बल्कि वे हमारी आत्मा हैं–इसी कारण से उनसे प्रेम करेंगे । इसी प्रेम को अहेतुकी भक्ति

कहते हैं। श्रीरामकृष्ण बारम्बार इसी अहेतुकी भक्ति की बात कहते हैं । इस भक्ति में भक्त भगवान से कुछ नहीं चाहता, क्योंकि उसकी कोई अन्य इच्छा ही नहीं है । वह केवल अपना सब कुछ मिटाकर, भगवान को अपनी प्रीति तथा श्रद्धा अर्पित करके ही तृप्ति का बोध करता है । इसके बदले में वह कुछ चाहता नहीं है । इसी प्रकार की भक्ति ही श्रीरामकृष्ण का आदर्श था । हम यदि इतना न भी कर सकें, तो कम-से-कम एक बात अवश्य ही याद रखें कि भोग-विषयों की कामनाएँ कहीं हमारे जीवन के ईश्वर रूपी केन्द्र-विन्दु का विस्मरण न करा दें । दो-एक कामनाएँ रह सकती हैं । शरीर-मन भोग की इच्छा कर सकते हैं । ठीक है, वे करें, परन्तु ये कामनाएँ कहीं हमें इस प्रकार न आच्छन्न कर लें कि हम भगवान को भूलकर भोग और सांसारिक ऐश्वर्य को ही जीवन का सार बना लें ।

श्रीरामकृष्णदेव के उपदेशों की मुख्य बात यह है कि हम भगवान का नाम लें । जप कितने हजार हो या ध्यान कितने समय तक हो–यह महत्त्वपूर्ण नहीं है; बल्कि हमें यह देखना होगा कि क्या हम उस हार्दिक प्रेम के साथ ईश्वर को पुकार रहे हैं, जिसके समक्ष संसार का सारा आकर्षण तुच्छ हो जाता है ।

श्रीमद्भागवत में कहा गया है कि उनके प्रति प्रेम संसार के अन्य समस्त प्रेमों को भुला देता है । अतः उनके प्रति हमारा कितना प्रेम हुआ है, इस पर विचार करके हमें साधन-पथ पर चलना होगा । उनका नाम लेते हुए बारम्बार मूर्छित होने से, जीवन भर बैठकर ध्यान करने से, साल-दर-साल लाखों जप करने से या तीर्थों में भ्रमण करने से भी काम नहीं होगा । तभी होगा, जब देखोगे कि वे हमारे हृदय को परिपूर्ण किये हुए हैं और उनके अतिरिक्त किसी व्यक्ति या वस्तु या विचार का कोई स्थान नहीं है । अपने हृदय का सारा प्रेम उन्हें देना होगा । उनके चरणों में स्वयं को पूर्णरूपेण समर्पित करना होगा । यही श्रीरामकृष्ण-साधना की सार बात है ।

यदि हम उन्हें आन्तरिक प्रेम कर सकें, तो हमारे मन में यह बोध आयेगा कि उनके द्वारा निर्मित इस सृष्टि के सभी प्राणियों में वे स्वयं ही विराजमान हैं । मैं प्रार्थना करता हूँ कि हम इसी आदर्श को अपने जीवन में उतार सकें, यही आदर्श हमारे जीवन को पूरी तौर से परिचालित करे, ताकि पूरा संसार और उसकी चीजें हमारे लिए तुच्छ हो जायँ । उनकी कृपा रहने पर सब कुछ सम्भव है । मैं ईश्वर से प्रार्थना करता हूँ कि हम सभी के जीवन में इसी प्रकार का ईश्वरानुराग उत्पन्न हो ।

जाने या अनजाने, भूल से या भ्रम से, किसी भी तरह क्यों न हो, भगवान का नाम लेने से उसका फल अवश्य मिलेगा । कोई नदी पर जाकर स्नान करे तो उसका जैसा स्नान होता है, वैसे ही अगर किसी को पानी में ढकेल दिया जाए तो उसका भी स्नान हो जाता है, और कोई सोया हुआ हो और उस पर पानी डाल दिया जाए तो उसका भी स्नान हो ही जाता है ।

–श्रीरामकृष्ण

भगवान् राम के अवतार का प्रयोजन

–पं० रामकिंकर जी उपाध्याय

बिप्र धेनु सुर संत हित, लीन्ह मनुज अवतार ।
निज इच्छा निर्मित तनु माया गुन गो पार ।

अर्थ–बिप्र, धेनु, देवता और संतों के हित के लिए ही भगवान् ने मनुष्य-रूप में अवतार ग्रहण किया । उनका यह अवतार-शरीर अपनी इच्छा के द्वारा निर्मित था । वस्तुतः ईश्वर तो माया, गुण और इन्द्रियों से परे हैं ।

प्रस्तुत दोहे में भगवान् राम के अवतार के उद्देश्य पर प्रकाश डाला गया है । अयोध्या के राजमहल में कौशल्या अम्बा के समक्ष श्रीराम चतुर्भुज-रूप में प्रकट हुए और माँ के अनुरोध पर नन्हें बाल के रूप में स्वयं को परिवर्तित करके रुदन करने लगते हैं । ठीक उन्हीं क्षणों में गोस्वामीजी स्मरण दिलाते हैं कि यह अवतार किनका है ? उनका वास्तविक स्वरूप क्या है ? एवं उनके अवतार लेने का उद्देश्य क्या है ? कौसल्या अम्बा के समक्ष श्रीराम के प्राकट्य की वेला में गोस्वामीजी ने एक वाक्य का प्रयोग किया और उस वाक्य में श्रीराम को 'कौसल्या-हितकारी, कहकर स्मरण किया गया है :

भए प्रगट कृपाला, दीनदयाला कौसल्या-हितकारी ।

इसके पश्चात् छन्द में श्रीराम और कौसल्या अम्बा के वार्तालाप के बाद अन्त में ईश्वर के अवतार के उद्देश्य में 'विप्र, धेनु, सुर और संत' का हित बताया जाता है ।

कौसल्या-हितकारी शब्द में जहाँ पर वैयक्तिकता की धारणा है, वहाँ छन्द के पश्चात् उल्लिखित इस दोहे में ईश्वर के अवतार के व्यापक उद्देश्य की चर्चा की गई है । इस पंक्ति में भी हित की ही बात दिखाई गई है । किन्तु कौसल्या-हितकारी के स्थान पर 'विप्र, धेनु, सुर, संत हित लीन्ह मनुज-अवतार' कहकर अवतार के उद्देश्य को व्यापकता प्रदान की गई है । इन दोनों में परस्पर-विरोध प्रतीत होने पर भी वस्तुतः व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध में मानस के समन्वयी दर्शन पर इससे प्रकाश पड़ता है । ईश्वर की उपलब्धि वैयक्तिक आकांक्षा का परिणाम भी हो सकती है और लोकमंगल के लिए यह समाज की माँग भी हो सकती है । व्यक्ति और समाज के हित का समन्वय ही मानस का उद्देश्य है । यदि यह कह दिया जाए कि 'ईश्वर का अवतार तभी होता है जब समाज के सारे व्यक्ति मिलकर उससे अवतार लेने की प्रार्थना करें,' तो सम्भवतः यह एक बहुत ही बड़ा कष्टकारक बन्धन होगा । इसलिए ईश्वर की उपलब्धि न केवल समाजिक कारणों से, अपितु वैयक्तिक आवश्यकता की अनुभूति की तीव्रता से भी, सम्भव होती है ।

मनु और शतरूपा के रूप में महाराज श्री दशरथ और कौसल्या ने जो साधना की थी, वह व्यक्तिगत साधना थी । और व्यक्तिगत साधना के परिणामस्वरूप ही उन्होंने श्रीराम को पुत्र-रूप में पाया । क्योंकि दशरथ और कौसल्या की सम्मिलित माँग यही थी ।

दानि-सिरोमनिकृपानिधि, नाथ कहउँ सति भाउ।
चाहउँ तुम्हहि समान सुत, प्रभु सन कवन दुराउ।।

मनु और शतरूपा के द्वारा की गई वैयक्तिक साधना का उद्देश्य अपने अन्तःकरण को चरम तृप्ति की दिशा में ले जाना था । मनु और शतरूपा को व्यक्तिगत जीवन में समग्र सुख, सुविधा, वैभव व सत्ता और धर्म के सुख उपलब्ध होने पर जिस अभाव की अनुभूति हो रही थी, उसी की पूर्त्ति के लिए तप किया गया था. और इस साधना के परिणामस्वरूप भगवान् ने मनुष्य बनना स्वीकार कर लिया । इसके द्वारा प्रत्येक व्यक्ति को जहाँ यह आश्वासन प्राप्त होता है कि यह आवश्यक नहीं है कि सारा समाज मिलकर जब ईश्वर की आकांक्षा करे,

तभी ईश्वर उसे उपलब्ध हो; इसके स्थान पर व्यक्ति को प्रोत्साहित करने के लिए इतना ही यथेष्ट है कि ईश्वर की उपलब्धि एक व्यक्ति की व्यक्तिगत आकांक्षा और उसके अन्तःकरण की भावना की परितृप्ति के लिए सम्भव है । किन्तु एक व्यक्ति की आकांक्षा की पूर्ति के लिए लिया जाने वाला अवतार केवल उस व्यक्ति का ही हित सम्पन्न करता हो, ऐसी बात नहीं है ।

रामचरितमानस के दर्शन में व्यक्ति और समाज एक-दूसरे के पूरक हैं । जहाँ पर व्यक्ति अपने मन की शान्ति के लिए प्रयास करता है, वहीं पर उसका यह भी कर्त्तव्य है कि उसका यह सुख लोक-हित का विरोधी न हो । इसीलिए रामचरितमानस की रचना में भी यही दोनों मूल सूत्र विद्यमान हैं कि वह परस्पर-विरोधी प्रतीत होने पर भी वस्तुतः एक-दूसरे के पूरक हों । गोस्वामीजी कहते हैं–'मैं इस रामचरितमानस की रचना 'स्वान्तः सुखाय' कर रहा हूँ' ।

नाना-पुराण-निगमागमसम्मतं यद्
रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि ।
स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथगाथा
भाषानिबन्ध मतिमंजुलमातनोति ॥

कविता की परिभाषा करते हुए वे कहते हैं कि कविता को सर्वहित की भावना से प्रेरित होना चाहिए । यह भी उनका स्पष्ट आग्रह है ।

कीरति भनिति भूति भलि सोई ।
सुरसरि सम सब कर हित होई ॥

और इस प्रकार कवि का 'स्व' 'सब' का पूरक है, न कि सबका विरोधी । ठीक इसी प्रकार प्रस्तुत पंक्तियों में भी ईश्वर के अवतार के उस वैयक्तिक कारण का उल्लेख किया गया है । और केवल उल्लेख ही नहीं किया गया है, अपितु 'कौसल्याहितकारी' शब्द को अधिक प्राथमिकता दी गई है । इसका तात्पर्य स्पष्ट है; यदि कौसल्या अम्बा के अन्तःकरण में श्रीराम को पाने की इतनी तीव्र आकांक्षा न होती तो सम्भव है कि श्रीराम-अवतार इतनी सरलता से न होता । इसीलिए कौसल्या अम्बा की इस वैयक्तिक साधना को कवि नमन करता है, जिससे द्रवित होकर श्रीराम मनुष्य के रूप में अवतरित होते हैं :

व्यापक ब्रह्म निरंजन, निर्गुन बिगत विनोद ।
सो अज प्रेम भगति बस, कौसल्या की गोद ॥

किन्तु कौसल्या का हित सर्वहित का विरोधी नहीं है, क्योंकि कौसल्या अम्बा-जैसे उदात्त चरित्र वाले व्यक्ति जब समाज को संकट में देखते हैं, तब वे अपने व्यक्तिगत हित का त्याग करने में संकोच नहीं करते । इसीलिए, यद्यपि महाराज श्री दशरथ और कौसल्या ने अपनी तपस्या के द्वारा ब्रह्म को मनुष्य-रूप में पाया, किन्तु महर्षि विश्वामित्र के आगमन पर अन्याय के विरुद्ध संघर्ष करने के लिए उन्हें समर्पित कर दिया । इसी प्रकार व्यक्तिगत साधना द्वारा उपलब्ध ईश्वर बिना किसी प्रयास के ही समाज को प्राप्त हो जाता है । कौसल्या का जीवन वस्तुतः लोक-कल्याण के लिए समर्पित है; क्योंकि उनके चरित्र में समग्र संतत्व विद्यमान है–और सन्त का लक्षण यही है ।

पर उपकार बचन मन काया ।
सन्त सहज सुभाउ खगराया ॥

यद्यपि ईश्वर के अवतार के लिए यह कहना अधिक उपयुक्त होता कि वह समग्र विश्व के कल्याण के लिए ही अवतरित हुआ । किन्तु 'बिप्र,धेनु, सुर और सन्त का हित' भी वस्तुतःसमस्त लोक का प्रतिनिधित्व करता है । विप्र समाज का मूर्धन्य है, वह विचार-प्रधान है । जिस समाज में विचार और विवेक की अवहेलना होती है, वह समाज पतन की दिशा में उन्मुख होता है । किन्तु वह विचार और समाज, केवल अपने अहंकार के लिए नहीं, अपितु, लोकमंगल के लिए कार्य कर रहा हो, यह आवश्यक है ।

महर्षि विश्वामित्र तपोवन में रहकर जिस महान् यज्ञ-साधना को सम्पन्न करते हैं, वह उनकी वैयक्तिक आकांक्षा की पूर्ति के लिए न

होकर लोक-मंगल के लिए है । ब्राह्मण का सारा जीवन समाज की सुव्यवस्था के लिए समर्पित था । ... आदेश दिया गया है :

ब्राह्मणस्य शरीरोऽयम् क्षुद्रकामय नेष्यते

"ब्राह्मण का शरीर क्षुद्र कामनाओं की पूर्ति के लिए नहीं है।" यद्यपि समाज में ब्राह्मण को विशिष्ट सम्मान प्राप्त होता रहा है, उसके प्रति अनेक लोगों के अन्तःकरण में तीव्र आक्रोश विद्यमान है । उन्हें ऐसा लगता है कि यह तो एक वर्ग और जाति-विशेष के प्रति पक्षपात है । और इसी के आधार पर बहुधा तुलसीदास जी को एक ब्राह्मणवादी संकीर्ण मनोवृत्ति का व्यक्ति सिद्ध करने का प्रयास भी किया जाता है । सत्य तो यह है कि जहाँ विप्र को यह सम्मान प्राप्त था, वहाँ उससे यह आशा भी की जाती थी कि उसका सारा जीवन व्यक्तिगत सुख-सुविधा के स्थान पर धर्म-साधना के लिए समर्पित होगा । ईश्वर का अवतार किसी जाति विशेष के प्रति उनके पक्षपात का परिचायक नहीं है । अगर ईश्वर को यह पक्षपात अभीष्ट होता तो वह स्वयं भी ब्राह्मण-वंश में ही जन्म लेता । किन्तु जहाँ परशुराम के रूप में एक अवतार ब्राह्मण जाति में जन्म लेता है, वहाँ पर श्रीराम समस्त सद्गुणों तथा सामर्थ्य से सम्पन्न होते हुए भी क्षत्रिय-वंश में जन्म लेते हैं । और 'तथाकथित ब्राह्मणवादी' तुलसी परशुराम की तुलना में राम की श्रेष्ठता सिद्ध करते हैं ! परशुराम से राम की स्तुति कराते हैं ! बेचारे जातीय विद्वेष से पीड़ित आलोचक तुलसी के दर्शन को समझ ही नहीं सकते ।

ब्राह्मण विश्व-हित का ही प्रतीक है । महर्षि विश्वामित्र के चरित्र के माध्यम से इसे प्रकट किया गया । विश्वामित्र ब्राह्मण के रूप में श्रीराम की याचना करने जाते हैं । महर्षि की यह याचना लोक-मंगल के लिए थी । विश्वामित्र के नाम का अर्थ है, 'विश्व का मित्र' । इस प्रकार एक विप्र के माध्यम से श्रीराम की उपलब्धि केवल ब्राह्मण जाति के लिए ही नहीं, अपितु समस्त विश्व के हित के लिए प्रयुक्त होती है । इसीलिए महर्षि विश्वामित्र राम की याचना के पश्चात् उन्हें यज्ञ-रक्षा के लिए ले आते हैं एवं यज्ञ-संरक्षण के बाद जनकपुर ले जाने में उन्हें रंच मात्र संकोच नहीं होता । क्योंकि उनकी दृष्टि में श्रीराम केवल महाराज श्री दशरथ की ही व्यक्तिगत संपत्ति नहीं हैं ।

विप्र-हित की ही भाँति धेनु-हित के लिए ईश्वर के अवतार में भी यही सत्य निहित है । गाय अहिंसा की प्रतीक है । वह तृण के बदले में दुग्ध प्रदान करती है । दुग्ध के द्वारा अपने बछड़े का ही नहीं, अपितु अनगिनत व्यक्तियों का पोषण करती है, किन्तु वह गाय किसी के भी प्रतिकूल नहीं है। नरहरिदासजी ने कभी अकबर के समक्ष गाय की सराहना में जो वाक्य कहे थे वे गाय की लोक-मंगलकारी भावना के ही सर्वश्रेष्ठ प्रतीक हैं :

हिन्दुहिं मधुर न देइ कटुक तुरकहिं न पिलावति ।

भले ही उसके प्रति कोई व्यक्ति हिंसक भाव-रखे अथवा अहिंसक, गाय तो सबको समान रूप से अपने स्नेहमय वात्सल्य का दान देकर तृप्त करती है । इसलिए 'धेनुहित' केवल एक समाज-विशेष के लिए नहीं, अपितु धेनु के माध्यम से यह समस्त विश्व को उपलब्ध होने वाली वात्सल्यमयी वृत्ति है ।

मानस के प्रारम्भ में रावण अत्याचार से संत्रस्त पृथ्वी गाय के रूप में ही मुनियों और देवताओं के पास जाती है :

धेनु रूप धरि हृदय विचारी ।
गई तहाँ जहँ सुर मुनि झारी ॥
निज संताप सुनाइसि रोई ।
काहू तें कछु काज न होई ॥

पृथ्वी व्यापक रूप में गाय की ही प्रतीक है । वह समस्त संसार के प्राणियों को अन्न का दान देती है, सबको धारण करती है । उसे परद्रोही प्रिय नहीं है :

गिरि सरि सिंधु भार नहिं मोही ।
जस मोहि गरुअ एक परद्रोही ॥

देवता प्रकृति की वे शक्तियाँ हैं जो उसका संचालन करती हैं। वे नियमों में आबद्ध हैं। रावण और कुम्भकर्ण की तपस्या के पश्चात् वरदान देने के लिए आए हुए ब्रह्मा और शंकर को यह ज्ञात था कि राक्षसों को वरदान देने से विश्व के समक्ष समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं। ''किन्तु जहाँ भी साधना और तपस्या है वहाँ फल देना ही चाहिए''—इस संवैधानिक मान्यता और मर्यादा के कारण ही ब्रह्मा और शंकर के द्वारा रावण को वरदान प्राप्त होता है। इसी प्रकार से देवताओं के द्वारा क्षमता प्राप्त करता हुआ व्यक्ति यदि उस क्षमता का सदुपयोग करता है, तो वस्तुतः देव-शक्ति इसके लिए उस व्यक्ति की कृतज्ञ होती है। किन्तु जब कोई व्यक्ति देवता से ही प्राप्त, शक्ति का उपयोग केवल अपने स्वार्थ और लोक-मंगल के हनन के लिए करने लगता है, तब उस समय देवता भी संत्रस्त हो उठता है। देवता के लिए अवतार लेने का तात्पर्य केवल उनके भोगों की रक्षा के लिए अवतरित होने से नहीं है। वस्तुतः विश्व-चक्र में समुचित रूप से प्रकृति का संचालन हो, इसके लिए आवश्यक है कि देवता और मनुष्य के सम्बन्ध परस्पर एक-दूसरे से श्रेष्ठ बने रहें। प्रकृति के इन नियमों में जब कोई व्यक्ति व्यवधान उपस्थित करता है, तब ईश्वर देवताओं के हित के माध्यम से उन शक्तियों को दण्डित करता हुआ प्रकृति के सन्तुलन को विश्व में स्थापित करता है!

तथा विप्र, धेनु, सुर के बाद सन्त के रूप में जिस चतुर्थ नाम का उल्लेख किया गया है वह तो मानो पर-हित का घनीभूत रूप ही है। पर-हित ही उसका स्वभाव है। इसलिए सन्त का लक्षण ही श्रीरामचरितमानस में यह बताया गया है :

संत सहहिं दुख पर-हित लागी।
पर-दुख-हेतु असंत अभागी॥

संसार के समस्त प्राणियों की पीड़ा के अपहरण के लिए बड़े-से-बड़ा कष्ट उठाना तो संतों का सहज स्वभाव ही है। किन्तु ऐसे भी व्यक्तियों का समाज में उद्भव होता है कि जो परहित-निरत सन्तों के प्रति भी हिंसक होकर उनके विनाश पर तुल जाते हैं। ऐसी स्थिति के परहित-निरत सन्तों को रक्षा के लिए ईश्वर के अवतार की घोषणा मानो विश्व-हित की रक्षा से ही सम्बद्ध है।

विभीषण से श्रीराम ने अवतार के उद्देश्य की व्याख्या करते हुए कहा।

तुम सारिखे सन्त प्रिय मोरे।
धरउँ देह नहिं आन निहोरे॥
सगुन उपासक परहित, निरत नीति दृढ़ नेम।
ते नर प्रान समान मम, जिन्ह के द्विज पद प्रेम॥

जब श्रीराम रावण के स्थान पर विभीषण को राज्य देते हैं, तब यह संघर्ष जातीय न होकर वस्तुतः वैचारिक ही था। विभीषण भी निशाचर जाति में जन्म लेते हैं किन्तु वे स्वभाव से ही सन्त हैं। उनका प्रयास यही था कि किसी प्रकार यदि रावण श्री सीताजी को श्रीराम के प्रति अर्पित कर अपने दुर्विचारों का परित्याग करने के लिए प्रस्तुत होता है, तो इससे उसकी सत्ता सुस्थिर रहेगी। इसी सद्भावना से प्रेरित होकर उन्होंने रावण को उपदेश देने की चेष्टा की थी किन्तु रावण ने उस पवित्र उपदेश के प्रतिदान में उनके ऊपर पाद-प्रहार किया और इस प्रकार विभीषण के हित के लिए किया जाने वाला कार्य वस्तुतः उस सिद्धान्त के संरक्षण के लिए ही है। ऐसी स्थिति में विप्र, धेनु, सुर और संत का हित केवल कुछ समूह अथवा वर्गों का ही कल्याण नहीं है। वह तो विश्व के समस्त प्राणियों का ही हित है। इस प्रकार विप्र, धेनु, सुर एवं संत की रक्षा के लिए अवतरित होकर ईश्वर समग्र विश्व के हित का कार्य सम्पन्न करता है। ❑

(बिरला अकादमी ऑफ आर्ट एण्ड कल्चर, कलकत्ता द्वारा प्रकाशित मानस मुक्तावली, १ से साभार)

श्रीरामकृष्ण, धर्म और साम्प्रदायिकता

–स्वामी निखिलेश्वरानन्द
सचिव, रामकृष्ण मिशन, पोरबन्दर

एक दिन संध्या के समय श्री रामकृष्ण कोलकाता की जरतला की मस्जिद के पास से गुजर रहे थे। वहाँ उन्होंने एक अद्भुत दृश्य देखा। एक फकीर ऊँची आवाज में प्रार्थना कर रहा था–

प्रभु, तुम आओ, प्रिय तुम दया कर के आओ। प्रार्थना में इतनी व्याकुलता थी कि उसकी आँखों से अश्रुओं की धारा वह रही थी। उसी समय श्री रामकृष्ण कोलकाता के कालीघाट से उस रास्ते से लौट रहे थे। अचानक टाँगे को रुकवाकर वे नीचे ऊतर दौड़कर फकीर के पास आए। दोनों एक दूसरे के गले से लिपटकर प्रेमाश्रु बहाने लगे। इस अद्भुत दृश्य को देखकर सब आश्चर्य चकित हो गए।

ई० सन् १८८५ में गले में कैंसर हो जाने से श्री रामकृष्णदेव को कोलकाता के श्यामपुकुर मकान में ३१ अक्टूबर की सुवह लाया गया। वहाँ एक ईसाई संन्यासी श्री प्रभुदयाल मिश्र आए। लगभग ३५ वर्ष की उम्र, श्यामवर्ण मुख, विशाल आँखें, लम्बी दाढ़ी, हाथ में छड़ी यूरोपीय वस्त्रों में सुसज्जित, ऐसे संन्यासी ने रामकृष्णदेव के कमरे में प्रवेश किया। श्री रामकृष्णदेव ने उनका स्वागत किया। बातचीत के दौरान श्री मिश्र ने तुलसीदासजी को उद्धृत करते हुए कहा, 'एक राम उनके हजार नाम।' ईसाई जिन्हें गॉड कहते हैं, उन्हीं को हिन्दू राम, कृष्ण ईश्वर आदि नामों से बुलाते हैं। एक तालाब के अनेक घाट है। हिन्दू एक घाट से पानी पीते हैं और उसे जल कहते हैं, ईसाई दूसरे घाट से पानी पीते हैं उसे कहते हैं--वाटर, मुसलमान अन्य घाट से पानी हैं और उसे कहते हैं–पानी। इस तरह ईसाई के लिए जो गॉड हैं वहीं मुसलमान के लिए हैं अल्लाह।''

कमरे में बैठे हुए अन्य भक्तों ने मिस्टर बिलियम के बारे में कहा जो प्रोटेस्टेंट ईसाई थे। उन्होंने गुड फ्रायडे के दिन (संभवत: १८७६) में श्री रामकृष्णदेव से भेंट की थी और श्री रामकृष्णदेव में उन्होंने ईसा मसीह का साक्षात् आविर्भाव देखा था। श्री मिश्र ने कहा, 'इस समय उन्हें (श्री रामकृष्णदेव को) आप ऐसे देखते हैं किन्तु वे स्वयं ईश्वर हैं। आप लोग उन्हें पहचान नहीं पा रहे हैं। इस समय मैं उनमें ईश्वर को साक्षात् देख रहा हूँ। मैंने उन्हें दिव्य दर्शन में पहले भी देखा था। मैंने एक बगीचा देखा, जिसमें वे एक ऊँचे स्थान पर बैठे थे, नीचे एक अन्य व्यक्ति भी था किन्तु वह उतना बड़ा हुआ नहीं था।'' बातचीत के प्रसंग में श्री मिश्र ने पतलून के नीचे पहना हुआ गेरुआ रंग का वस्त्र दिखाया और अपनी व्यक्तिगत बातें की। उनका जन्म ब्राह्मण परिवार में हुआ था। बाद में ईसा मसीह को अपना ईष्टदेव मानकर वे क्वेकर सम्प्रदाय में शामिल हो गए। अपने एक भाई के विवाह के दिन शामियाने के टूटने से उस भाई की तथा उसके अन्य भाई की वहीं मृत्यु हो गई। उसी दिन उन्होंने संसार का त्याग कर दिया था।

थोड़ी देर बाद श्री रामकृष्णदेव ने भावावस्था में श्री मिश्र से कहा तुम जिनके लिए प्रयत्न कर रहे हो वे अवश्य मिलेंगे। मिश्र ने श्री रामकृष्णदेव में अपने इष्ट ईसा मसीह को देखा और उनकी स्तुति करने लगे। फिर उन्होंने भक्तों से कहा, 'तुम उन्हें पहचान नहीं सके हो, वे साक्षात् ईसा मसीह हैं।'

श्री रामकृष्णेदव को दिव्य अनुभूति हुई थी कि भिन्न-भिन्न धर्मों के लोग उनसे प्रेरणा पाऐंगे और आध्यात्मिक प्रगति को प्राप्त करेंगे। उनके जीवनकाल में विविध धर्मों और सम्प्रदायों के बहुत से अनुयायी उनके पास आते थे। उनकी महासमाधि के बाद भी यह क्रम जारी है।

श्री रामकृष्णदेव के शिष्य स्वामी अखंडानंदजी जब हिमालय की यात्रा कर रहे थे तब उन्होंने एक मुसलामन की चाय की दुकान में श्री रामकृष्णदेव की फोटो देखी। स्वामी अखण्डानन्दजी ने आश्चर्य से इस बारे में पूछा तब वृद्ध मुसलमान ने उत्तर दिया, 'मुझे नहीं मालूम कि यह किसकी फोटो है। मैं बाजार गया था। जिस कागज में सब चीजें लिपटी हुई थी उसे खोलकर देखा तो उसमें यह फोटो निकली। उनकी आँखों पर मैं मुग्ध हो गया। मुझे लगा ये हमारे पैगम्बर जैसे होने चाहिए। इसलिए मैंने यह फोटो फ्रेम में मढ़वाकर दुकान में रखी है।'

स्वामी अखण्डानन्दजी भी जब तिब्बत की यात्रा कर रहे थे तब कैलास के पास छेकरा में ल्हासा का एक धनवान खाम्हा उनके पास श्री रामकृष्णदेव की फोटो देखकर भावावस्था में आ गया और उसे लगा कि यह तो साक्षात् ईश्वर के ही चक्षु हैं। उसने स्वामी अखण्डानदजी से वह फोटो माँग ली और प्रतिदिन उसकी पूजा करने लगा।

१९०२ में श्री रामकृष्णदेव के शिष्य स्वामी अभेदानन्दजी महाराज न्यूयार्क में अपने अभ्यास कमरे में बैठे थे तब एक अमेरिकन युवती ने प्रकाशन कार्य हेतु उस कमरे में प्रवेश किया कमरे में प्रविष्ट होते ही मेज पर रखी हुई रामकृष्णेदव की फोटो को देखकर वह आश्चर्य-चकित हो गई, क्योंकि कुछ समय पहले बोसटान में उसे श्री रामकृष्णदेव के अद्‌भुत दिव्य दर्शन प्राप्त हुए थे। किन्तु तब उसे मालूम नहीं था कि वे हिन्दू योगी कौन थे। स्वामी अभेदानंदजी से उसने उनके गुरु के विषय में सब जानकारी प्राप्त की। बाद में उसने संन्यास ग्रहण किया। मिस लॉग फ्रैंकलीन ग्लैन का नया नाम हुआ– सिस्टर देवमाता'। श्री रामकृष्ण संघ के विदेश के केन्द्रों में उन्होंने बहुत सेवा की।

अमेरिका की एक अन्य युवती को भी स्वप्न में एक भारतीय योगी के दिव्य दर्शन हुए थे। यह घटना स्वामी विवेकानन्द के अमेरिका जाने के पूर्व की है। अनेक वर्षों तक वह उन्हें खोजने के असफल प्रयत्न करती रही। विवाह के पश्चात् वह न्यूयार्क के पास न्यूजर्सी के मोन्टक्लेयर में रहने आई। स्वामी विवेकानन्दजी के व्याख्यान सुनकर वह वेदांत की अनुयायी बन गई। रामकृष्ण संघ के संन्यासी उनके घर जाते। एक बार स्वामी विवेकानन्दजी के गुरुभाई स्वामी सारदानन्दजी ने बातचीत के प्रसंग में अपने गुरु श्री रामकृष्णदेव की फोटों दिखायी तब वह बोल पड़ी, 'ओह यह तो वही चेहरा है।' बाद में उसने अपने दिव्य दर्शन की बात की। यह महिला (मिसेज व्हीलर) जीवन भर श्री रामकृष्णदेव की परम् भक्त बनी रहीं।

अब सिर्फ भारतवर्ष के ही नहीं किन्तु समग्र विश्व के दार्शनिक, धर्माचार्य, विद्वान यहाँ तक कि ईसाई और मुसलमान भी श्री रामकृष्णदेव को समन्वय के मसीहा के रूप में स्वीकार कर रहे हैं। श्री रामकृष्णदेव ने अपने जीवन की प्रयोगशाला में विभिन्न धर्मों की साधना कर उसके चरम लक्ष्य की सिद्धि हासिल की और उसके बाद अपनी अनुभूति के आधार पर उन्होंने कहा–'जितने भाव, उतने पथ। सभी धर्म एक ही परम् सत्य की ओर ले जाते हैं, यद्यपि मार्ग अलग-अलग हैं।'

क्लाड एलन स्टार्क ने अपनी पुस्तक 'The God of All' में विस्तारपूर्वक लिखा है कि श्री रामकृष्णेदव का सभी धर्मों के प्रति उदार दृष्टिकोण जो उनकी ईश्वर की साक्षात् अनुभूति पर आधारित है, धर्मों की विविधता की समस्या के समाधान के लिए व्यावहारिक सिद्धान्त प्रस्तुत करता है।'

बोस्टन विश्वविद्यालय के प्रोफेसर फ्रेंसिस क्लूनी ने लिखा था–'श्री रामकृष्ण अन्य धर्मों के अनुयायियों के साथ रहते हुए अपने धर्म का पालन करने का आधार प्रस्तुत करते हैं। श्री रामकृष्ण कहते हैं, हम ईसा मसीह की ओर जितनी तीव्र गति से यात्रा करोगे, उतना ही अधिक हम समझ पाएँगे कि ईसा मसीह चाहते

हैं कि हम अपने धर्म की चहारदिवारी से निकलकर उन्हें ढूंढ़ने का प्रयास करें । इसी विश्वविद्यालय के प्रोफेसर मुहम्मद दाउद रहबर ने लिखा था–'सदियों की गुलामी के दौरान हिन्दुओं के धार्मिक विचारों को मुसलमान और ईसाइयों ने हीन दृष्टि भाव से देखा है । राजनैतिक स्वाधीनता मिलने के पश्चात् यह स्थिति बदल गई है ! हिन्दुओं के धार्मिक प्रयत्नों की तीव्रता ने गौरव प्राप्त किया है । क्या सीधे और सरल रामकृष्ण अपने आप में पूर्ण वैज्ञानिक नहीं थे ? उनके पवित्र जीवन में हम धर्म और विज्ञान का एक समन्वय देखते हैं ।'

कोलकाता के विद्वान श्री हौसेनुर रहमान अपनी पुस्तक 'The Symbol of Harmony of Religion में विस्तार से लिखते हैं कि श्री रामकृष्ण साम्प्रदायिक समन्वय के उद्गम स्थान हैं ।

आज हम बहुत ही कठिन परिस्थितियों से गुजर रहे हैं । ऐसा धर्म-मन्दिर बनाने की आवश्यकता है जिसमें हिन्दू और गैर हिन्दू एक परम् चैतन्य की आराधना में हाथ मिलाएँ ! यह प्रेरणा हमें श्री रामकृष्णदेव के पास से मिलेगी । प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान प्रो० मैक्समूलर श्री रामकृष्ण के विषय में लिखे गए अपने लेख में लिखते हैं, श्री रामकृष्ण के वचनों द्वारा सिर्फ उनकी विचारधारा ही हमारे समक्ष प्रकट नहीं होती, किन्तु करोड़ों मानवों की श्रद्धा और आशा प्रकट होती है, तब उस देश के भविष्य के लिए हमें वास्तव में आशा की किरणें दिखाई देती हैं । ईश्वर प्रत्यक्ष रूप में विद्यमान है ऐसा भाव यदि बहता रहे तो यही ऐसी सर्वसामान्य भूमिका है जिस पर निकट समय में भविष्य के महान धर्म-मन्दिर की स्थापना होगी और उस मन्दिर में हिन्दू और गैर हिन्दू एक परम चैतन्य की आराधना करेंगे, हृदय से हृदय मिलेंगे ऐसी हम आशा कर सकते हैं ।'

श्री रामकृष्णदेव के सर्वधर्मसमन्वय के भाव को दृष्टि में रखते हुए स्वामी विवेकानन्द ने रामकृष्ण मठ और मिशन के कार्यों में और आदर्श में साम्प्रदायिक एकता को महत्व दिया है । अपने गुरुभाई के साथ वार्तालाप के दौरान उन्होंने कहा था–जगत् के सभी धर्मों को एक अक्षय सनातन धर्म का रूपान्तर मात्र जानकर समस्त धर्मावलम्बियों को मैत्री स्थापित करने के लिए श्री रामकृष्ण ने जिस कार्य की उद्भावना की थी, उसी का परिचालन संघ का व्रत है ।

❑

कोई भी निश्चित रूप से यह नहीं कह सकता कि भगवान् केवल 'यह' है, और कुछ नहीं । वे निराकार हैं, और फिर साकार भी । भक्तों के हित के लिए वे रूप धारण करते हैं । किन्तु ज्ञानी की दृष्टि में वे अरूप ही हैं । जानते हो, यह किस प्रकार है ? सच्चिदानन्द परब्रह्म एक अनन्त समुद्र के समान है । तेज ठण्डक के कारण समुद्र में यत्र तत्र वर्फ की चट्टानें तैयार हो जाती हैं । इसी प्रकार मानो अपने उपासकों की भक्ति की शतलता के प्रभाव से अनन्त अपने को सान्त में रूपान्तरित करता है और उपासकों के सम्मुख साकार भगवान् के रूप में प्रकट होता है । दूसरे शब्दों में, भगवान् अपने भक्तों के सम्मुख शरीर धारी व्यक्ति के रूप में प्रकट होते हैं । पुनः जिस प्रकार सूर्योदय होने पर समुद्र के ऊपर की बर्फ पिघल जाती है उसी प्रकार का उदय होने पर देहधारी भगवान् फिर से अनन्त एवं निराकार ब्रह्म में लय हो जाते हैं । तब साधक को ऐसा अनुभव नहीं होता कि भगवान एक व्यक्ति हैं, और न तब भगवान के रूप ही दिखाई देते हैं । परन्तु यह ध्यान रखो कि साकार एवं निराकार दोनों एक ही सत्य के दो पक्ष हैं ।

–भगवान श्रीरामकृष्ण

ब्रह्ममयी श्री माँ सारदा देवी

—स्वामी शशांकानन्द

श्री माँ सारदा देवी को आज जगत् में कौन नहीं जानता ? सारे विश्व में आज उनकी पूजा-वन्दना होती है । इसलिए नहीं कि वे युगावतार भगवान् श्रीरामकृष्ण देव की धर्मपत्नी हैं, बल्कि इसलिए कि वे स्वयं जगदम्बा भगवती हैं । विख्यात नाटककार श्री गिरीश चन्द्रघोष ने श्री श्री माँ से पूछा था, ''तुम कैसी माँ हो ? उन्होंने कहा था 'मैं सच्ची माँ हूँ । गुरु पत्नी नहीं, मुँह बोली माँ नहीं,कहने की माँ नहीं, सत्य जननी हूँ ।' एक महिला ने श्री माँ से पूछा, 'माँ, आप जो भगवती हैं, हम सब यह क्यों नहीं समझ पाते ? माँ ने कहा, 'सभी क्या पहचान सकते हैं बेटी ? कहीं घाट पर एक टुकड़ा हीरा पड़ा था । सभी उसे पत्थर समझ उस पर पैर घिसकर स्नान करके चले जाते । एक दिन एक जौहरी ने उस घाट पर आकर पहचाना कि वह एक बड़ा भारी बहुमल्य हीरा है ।'

श्री माँ की इस उक्ति से ही आइये हम जानने की चेष्ट करें श्री श्री माँ सारदा देवी कौन थी ? कुछ इने गिने जौहरी ही श्री माँ रूपी हीरे को पहचान पाए थे । भानुबुआ ने उन्हें पार्वती के रूप में, गाँव वालों ने जगद्धात्री के रूप में, तेलोभेलो के डाकू ने एवं उनके भतीजे शिबूदादा ने माँ काली के रूप में और विष्णुपुर के एक कुली ने माँ जानकी के रूप में उन्हें पहचाना था। जितने जौहरी इस हीरे को पहचान पाए हैं उनमें सबसे अग्रगण्य हैं स्वयं भगवान श्रीरामकृष्ण देव। उन्होंने गोपाल माँ से कहा, 'वह (श्री माँ) सारदा सरस्वती है। ज्ञान देने के लिए आई है।' अन्यत्र उन्होंने कहा, 'वह ज्ञानदायिनी, महा बुद्धिमती है। वह क्या ऐसी वैसी है ? वह मेरी शक्ति है।' (आधुनिक शिक्षा और वंशाभिमान आदि से रहित, सरला श्री माँ को पहचानना आसान नहीं है। इसी से श्रीरामकृष्ण स्वयं उनका स्वरूप प्रकट करने के लिए अग्रसर हुए थे ।) वह जानते थे कि भोगैश्वर्यपूर्ण वर्तमान युग में शुद्धसत्व और पवित्रता से परिपूर्ण इस चरित्र को पूरी तरह समझना हमारी शक्ति से बाहर है । दक्षिण में श्री माँ की जगह एक सजी-धजी औरत को ही माँ समझे । इसी से श्री माँ के सम्बन्ध में श्रीरामकृष्ण हँसी में कहते थे, 'राख से ढंकी हुई बिल्ली है ।' जैसे राख से ढंकी बिल्ली शीघ्र लोगों की दृष्टि में नहीं आती, वैसे ही श्री माँ साधारण मनुष्य की समझ में नहीं आतीं । वे इस बार इस प्रकार रूप छुपाकर क्यों आईं ? इस सम्बन्ध में श्रीरामकृष्ण कहते हैं, 'सौंदर्य रहने पर उसे अशुद्ध भाव से देखने के कारण कहीं लोगों का अमंगल न हो जाय, इसी से इस बार रूप छिपाकर आई है ।' श्री श्री माँ भी इस बात को भली प्रकार जानती थीं । कभी-कभी भाव में कहने लगतीं, बार-बार आना, क्या इसका अन्त नहीं ? शिव-शक्ति साथ-साथ, जहाँ शिव, वहीं शक्ति-निस्तार नहीं । तिस पर भी लोग समझते नहीं । जीव कल्याण के लिए श्री भगवान् को युग-युग अवतार लेना पड़ता है, क्योंकि जीव उन्हीं के जो हैं, ...। अन्यत्र उन्होंने कहा, 'युग-युग में अवतार होते हैं । मैं तुम्हारी अपनी माँ हूँ; समय पर पहचानोगे ।'

जब-जब धर्म की ग्लानि और अधर्म की वृद्धि होती है, और मानव अपनी शुद्धबुद्ध मुक्त स्वभाव आत्मा की विस्मृति के कारण स्वार्थी एवं इन्द्रियलोलुप एवं भोगपरायण होता हुआ दुःखी अशान्त अपने को क्षुद्र जीव मान बैठता है तब-तब भूले भटके, अस्त व्यस्त मानव-समाज के पुनरुत्थान के लिए परम कारुणिक भगवान् नररूप धारण कर अवतीर्ण होते हैं और युग-युग में उनके साथ उनकी आराधिता शक्ति भी नारी रुप में अवतीर्ण होती हैं । इस युग में भगवान श्रीरामकृष्ण देव का रुप धारण कर आए और उनके साथ-साथ अवतीर्ण हुईं श्री श्री माँ सारदा देवी । दोनो का अपूर्व दिव्य नाटक अलौकिक था !

शिहड़ ग्राम में एक संगीत समारोह में एक महिला की गोदी में बैठी छोटी सारदा से एक महिला ने पूछा 'इनमें से तू किसके साथ विवाह करना चाहती है,' तब दोनों हाथ उठाकर समीप ही बैठे श्रीरामकृष्ण को दिखा दिया था उन्होंने। बाद में श्रीरामकृष्ण के सम्बन्ध में वायुरोगग्रस्त के समान व्यवहार करने की बात सुनकर माँ चन्द्रामणि ने श्रीरामकृष्ण को दक्षिणेश्वर से कामारपुकुर बुला लिया और उनकी सांसारिक उदासीनता दूर करने के लिए विवाह बन्धन में बाँधने की असफल चेष्टा की। तब श्रीरामकृष्ण ने भी सरल भाव से आनन्द और उत्साह प्रकट करते हुए कहा था, 'जयरामबाटी के श्रीरामचन्द्र मुखर्जी के घर जाकर देखो कन्या मेरे लिए चिह्नित कर रखी गई है।'

यह विवाह लोक कल्याणार्थ ही हुआ था, सांसारिक जीवन के लिए नहीं। एक दिन श्रीरामकृष्ण ने कहा, 'जगन्माता ने मुझे दिखा दिया है कि वह प्रत्येक स्त्री में निवास करती हैं और इसलिए मैं हर स्त्री को माँ रूप में देखता हूँ। परन्तु यदि तुम्हारी इच्छा मुझे संसार में खींचने की हो, क्योंकि तुमसे मेरा विवाह हो चुका है, तो मैं तुम्हारी सेवा में उपस्थित हूँ।' श्री माँ ने तुरन्त उत्तर दिया 'आपको सांसारिक जीवन में घसीटने की मेरी इच्छा कदापि नहीं है, बस इतना चाहती हूँ कि मैं आपके समीप रहूँ, आपकी सेवा करूँ तथा आपसे शिक्षा ग्रहण करूँ। मैं तो इष्टपथ में सहायता करने आयी हूँ।' काशीपुर में एकदिन श्रीरामकृष्ण श्री माँ की ओर टकटकी लगाये हैं,यहदेखकर श्री माँ ने कहा, 'क्या कहोगे ? कह दो।' श्रीरामकृष्ण ने शिकायत के स्वर में कहा, 'तुम क्या कुछ भी नहीं करोगी (अपनी ओर इशारा करके) यही सब करेगा ?' श्री माँ ने अपनी असमर्थता की बातसोचते हुए कहा, 'मैं तो औरत हूँ मैं क्या कर सकती हूँ ?' श्रीरामकृष्ण ने उत्तर दिया नहीं, तुम्हें बहुत कुछ करना होगा। फिर एक दिन श्रीरामकृष्ण आँख बंद किये लेटे थे। श्री माँ ने जब उन्हें भोजन के लिए पुकारा तब श्रीरामकृष्ण मानो किसी दूर प्रदेश से आकर भाव के नशे में श्री माँ की ओर दृष्टिपात करते हुए बोले, 'देखो, कलकत्ता के लोग मानों अंधेरे में कीड़ों की तरह कुलबुला रहे हैं। तुम उनको देखना।' श्री माँ ने करुण स्वर में कहा, 'मैं तो स्त्री हूँ, यह कैसे होगा ?' श्रीरामकृष्ण अपने शरीर की ओर इंगित कर अपने ही भाव में कहते चले, 'आखिर इसने किया ही क्या है ? तुम्हें इससे बहुत ज्यादा करना होगा।' फिर कहा, 'क्या सिर्फ मेरी जिम्मेदारी है ? तुम्हारी भी है।' माँ जानती थी कि श्रीरामकृष्ण के पार्थिव शरीर छोड़ने के बाद ही माँ का कार्य आरम्भ होगा। इसीलिए उन्होंने कहा, 'वह जब होगा, तब होगा। तुम इस समय भोजन तो करो।' श्रीरामकृष्ण की भाँति ही उन्होंने भी दरिद्रता, निरक्षरता का आधार लेकर अति साधारण एवं सरलरूप धारण किया। आधुनिक चमक दमक से दूर, अत्यन्त साधारण ग्राम्य परिवेश में जन्म लिया। क्योंकि इसबार अस्त्रबाहुल्य, सिंह गर्जन समर कोलाहल की आवश्यकता नहीं थी बल्कि लज्जा, विनय, सदाचार, पवित्रता, कल्याण कामना, मातृत्व, सर्वजीवों के प्रति प्रेम और ईश्वरानुभूति इन गुणों के चमत्कार द्वारा मानवमन को असत् से हटाकर सत्पथ पर ले जाने की आवश्यकता थी, उनके मन को जीतने की आवश्यकता थी, आकर्षित करने की आवश्यकता थी।

अल्पावस्था से ही वे घर के कार्यों में अपनी माँ का हाथ बटाती थीं। रुई चुनना, रुई से जनेऊ बनाना, छोटे भाइयों की देख भाल करना, पशुओं के लिए घास काटना, खेतों में काम करते मजदूरों केलिये जलपान ले जाना यहाँ तक कि रसोई बनाना, तालाब से जल लाना आदि। इसके साथ-साथ लक्ष्मी और काली की मूर्ति बनाकर पूजा करना उनका अति प्रिय खेल था। माँ जगद्धात्री के सामने ध्यान मग्न शारदा को देखकर हलदेपुकुर के रामहृदय घोषाल

तो विस्मिय रह गए थे, कौन जगद्धात्री और कौन माँ यह निश्चय न कर सकने के कारण वे डर से भाग गए ।

विवाह के उपरान्त कामारपुकुर में माँ ने तैरना, गाना और खाना पकाना आदि अच्छी तरह सीख लिया था । इधर श्रीरामकृष्ण भी उन्हें अनेक भाँति की शिक्षा देने में प्रवृत्त हुए । एक ओर जैसे उन्होंने अपने त्यागमय जीवन का ज्वलंत आदर्श श्री माँ के सम्मुख रखा और उन्हें उच्च आध्यात्मिक जीवन की प्राप्ति के लिए उपयोगी चरित्र गठन की शिक्षा दी, वैसे ही दूसरी ओर गृहस्थी के नित्यकर्म, देव-द्विज-अतिथि सेवा, गुरुजनों पर श्रद्धा, छोटों के प्रति स्नेह, परिवार की सेवा में आत्मसमर्पण आदि अनेक विषयों पर उनको उपदेश दिये ।

श्री माँ ने श्रीरामकृष्ण के साथ आठ मास तक एक ही खाट पर शयन किया । उस समय जिस प्रकार श्रीरामकृष्ण का मन उर्ध्वलोक में विचरण करता था, उसी प्रकार श्री माँ का मन भी इन आराध्यदेव के ध्यान में ही मग्न रहता था । दोनों ही पवित्रता की मूर्ति थे ।

इस पवित्रता स्वरूपिणी को श्रीरामकृष्ण अपनी लीला को पूरा करने के लिए बाद में रख जाएँगे । इसीलिए उन्हें अपनी शक्ति के बारे में सचेतन कराने के लिए श्री माँ की षोडशोपचार विधि से पूजा की । श्री माँ भाव जगत् में स्थित होकर श्रीरामकृष्ण की पूजा तथा उनकी साधना की ही समस्त सिद्धियों की अधिकारिणी हुई । इसके सिवा व्यावहारिक दृष्टि में भी उन्होंने सभी जीवों में ब्रह्म बुद्धि रखनी सीखी ।

श्री पूर्ण के दक्षिणेश्वर आने पर श्रीरामकृष्ण ने उन्हें भोजन करने के लिए नौबतखाने में भेज दिया । उनके अभिप्राय के अनुसार श्री माँ ने उस दिन पूर्ण को माला चन्दन से सजाया और प्यार से अपने निकट बैठाकर विविध व्यन्जनों से भोजन कराया । तदुपरान्त आचमन के लिए उनके हाथ पर जल भी डाला । श्रीरामकृष्ण बीच-बीच में नौबतखाने की बगल में आकर श्री माँ को यह बतला रहे थे कि किस तरह क्या करना चाहिए और उससे भी तृप्त न होकर अपने कमरे की ओर जाते-जाते लौटकर नये-नये निर्देश दे रहे थे । उस दिन श्री माँ ने शायद मातृत्व की परिपूर्ति के साथ ही बालक नारायण की पूजा भी सीखी । हरिद्वार जाते समय रेलगाड़ी में योगीन महाराज को बहुत ज्वर हुआ । माँ जब उन्हें अनार दाना खिला रही थीं, तब श्री माँ ने देखा जैसे श्रीरामकृष्ण को ही खिलाया जा रहा है ।

श्री माँ को एक बार अनुभूति हुई थी । उन्होंने देखा था कि श्रीरामकृष्ण ही सब कुछ हो रहे हैं—अंधे, लंगड़े सभी वे ही हैं, जीवों के कष्ट से उनको कष्ट है, इसीलिए श्री माँ को भी कष्ट निवारण में प्रवृत्त होना पड़ता है । यह अनुभूति ही श्री माँ के कोमल हृदय में करुणा का भाव जागृत करती रहती थी तब उनकी निद्रा, विश्राम सब कहाँ चले जाते थे, वे सब कुछ छोड़कर उनके कष्ट निवारण में लग जाती थीं और जीवों का कल्याण-चिन्तन ही उनका एक मात्र कर्तव्य रहता ।

एक दिन स्वामी विश्वेश्वरानन्द जी ने पूछा 'आप हम लोगों को किस तरह देखती हैं ?' माँ ने उत्तर दिया, 'नारायण के रूप में ।' फिर प्रश्न हुआ, 'हम सब आपकी संतान हैं । नारायण भाव से देखने पर तो संतान-भाव से देखना नहीं होता है ।' इसके उत्तर में माँ ने कहा, 'नारायण के रूप में भी देखती हूँ, सन्तान के रूप में भी ।'

और एक दिन सुधीरा देवी से उन्होंने कहा था, 'मेरी एकबार ऐसी अवस्था हो गयी थी कि नैवेद्य से चींटियों को नहीं भगा सकती थी; ऐसा जान पड़ता था कि ठाकुर ही खा रहे हों, इतना ही नहीं उन्होंने एक दिन ज्ञान महाराज से कहा, 'देखो, ज्ञान, बिल्लियों को मारना नहीं । उनमें भी तो मैं हूँ ।'

दक्षिणेश्वर के नौबत खाने की कोठरी और श्यामपुकुर की बैठक में श्री माँ की पति सेवा तथा भक्तों के लिए खाने इत्यादि की व्यवस्था एक बड़ी भारी तपस्या थी । लेकिन माँ ने इन

तपस्याओं से भी संतुष्ट न होकर श्रीरामकृष्ण की भाँति अपने सारे जीवन को एक अविराम साधना बना डाला था । काम-काज के व्यस्त जीवन में माँ नित्य एक लाख जप करती थीं । जप के साथ-साथ निरंतर ध्यान और प्रार्थना भी चलती थी । रात्रि में गंगा में चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब देखकर प्रार्थना करतीं ‘ चन्द्रमा में भी कलंक है, पर मेरे मन में कोई दाग न रहे ।’ ध्यानाभ्यास के कारण श्री माँ का स्वाभाविक अन्तर्मुखी मन पहली अवस्था में ही सम्पूर्ण तन्मय हो जाता था । माँ कहती थीं, ‘परिश्रम करना चाहिये; बिना परिश्रम के क्या कुछ होता है ? सांसारिक कार्यों के बीच भी कुछ समय निकालना चाहिए । अरी, मैं क्या बताऊँ, दक्षिणेश्वर में उस समय रात के तीन बजे उठकर जप करने बैठती थी । ‘माँ का ध्यान कभी-कभी खूब जम जाता था एवं भाव समाधि भी होती थी । योगिन माँ ने देखा कि माँ अभी खूब हँस रही हैं, फिर थोड़ी देर में रो रही हैं । दोनों आखों से अविरल आँसू बह रहा है । कुछ समय तक ऐसी रहकर वे धीरे-धीरे एक दम स्थिर-पूर्ण समाधिस्थ हो गईं, एकरात्रि को कोई वंशी बजा रहा था । वंशी की आवाज सुनकर माँ को भाव हुआ । वे रह रहकर हँसने लगीं ।

एक दिन संध्या के पश्चात् श्री माँ अपनी दोनों सहचरियों के साथ छत पर बैठी ध्यान कर रही थीं । योगिनी माँ ने अपना ध्यान समाप्त होने पर देखा कि श्री माँ तब भी बैठी हैं– निस्पन्द, समाधिस्थ । बहुत देर के बाद आधे होश में आकर वे कहने लगीं, ‘अरी योगेन, मेरे हाथ कहाँ हैं, पैर कहाँ हैं ? दोनों सहचरियाँ उनके हाथों और पैरों को दबाकर दिखाती हुई कहने लगीं, ये तुम्हारे हाथ हैं, ये तुम्हारे पैर हैं ।’ फिर भी देह बोध होने में काफी देर लगी । ❑

स्वामी विवेकानन्द प्रतिपादित कर्मयोग का वैशिष्टय

–स्वामी ब्रह्मेशानन्द
सचिव, रामकृष्ण मिशन, चण्डीगढ़

स्वामी विवेकानन्द जैसे दुर्लभ देवमानव युग-युगान्तर में एकाध बार अवतीर्ण होते हैं । ये महापुरुष मानव जाति के ऐसे विषम सन्धि-क्षण में आविर्भूत होते हैं जब अधर्म एंव जड़वाद विश्व के अस्तितव को ही खतरे में डाल देते हैं । तब वे समग्र मानव जाति को एक नयी दिशा प्रदान कर उसका उद्धार साधित करते हैं ।

सामान्य मानवी मापदंडों से ऐसे महापुरुषों के महान कार्यों का मूल्यांकन करना संभव नहीं होता । स्वामी विवेकानन्द ने स्वयं एक बार कहा था कि जो कार्यमैंने किया है उसे दूसरा विवेकानन्द ही समझ सकता है । स्वामी तुरीयानन्द जी के अनुसार स्वामी विवेकानन्द ने समग्र विश्व की चिन्तनधारा को ही परिवर्तित कर दिया था । अतः यदि हम अपने पूर्वाभ्यस्त चिन्तन, सदियों से विशेष प्रकार से सोचने में अभ्यस्त मन की सहायता से स्वामीजी के अवदान का अंकन करने का प्रयत्न करें तो असफल ही होंगे । यह समस्या स्वयं स्वामी जी के गुरुभाइयों के साथ भी थी । विदेशों से लौटने के बाद जब स्वामी जी ने रामकृष्ण मिशन की स्थापना कर सेवा कार्यों का प्रारम्भ किया तो उनके गुरुभाइयों में से कुछ ने यह कहकर आपत्ति की थी कि ये कार्य श्रीरामकृष्ण के उपदेशों के अनुरूप नहीं है । आज उस घटना के १०० वर्ष बाद स्वामी जी द्वारा प्रचारित एवं प्रतिष्ठित सेवाधर्म धार्मिक संघों, सामाजिक संघटनों एवं जन समाज द्वारा पूर्ण रूप से स्वीकृत एवं अनुमोदित हो चुका है । नव-वेदान्त, व्यावहारिक वेदान्त, सेवाधर्म आदि नामों से जाने वाले स्वामी विवेकानन्द के इस अवदान की मौलिकता, गहरे तात्पर्य एवं महत्व को समझने के लिए हमें सर्वप्रथम गीतोक्त कर्मयोग को जानना आवश्यक है ।

गीतोक्त कमयोग :

'योगः कर्मसु कौशलम्' कर्म करने की वही कला जिससे कर्म बन्धन का कारण न होकर मुक्ति का कारण हो, कर्मयोग कहलाता है । श्रीमद् भगवद्गीता इसका सर्वमान्य एवं सबसे प्रामाणिक ग्रन्थ है । गीता के अनुसार निष्कामभाव से, कर्म एवं कर्मफल भगवान को समर्पित करते हुए कर्म करने से कर्त्ता कर्मों के अवश्यंभावी परिणामों से प्रभावित नहीं होता । अगर कर्त्तापन का भाव न रहे तो व्यक्ति सामूहिक नरसंहार जैसा महान पातक करने पर भी उसके दुष्परिणामों से मुक्त रह सकता है । गीतोक्त कर्मयोग के अनुसार कर्म से अधिक महत्वपूर्ण वह भाव है जिससे वह किया जाय । अतः गीता में सर्वत्र कर्मयोगी को अपने दृष्टिकोण को परिवर्तित करने, इन्द्रियों को संयत करने एवं मन को समत्व में स्थापित कर कर्म करने का निर्देश दिया गया है । गीता के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति का अपना एक स्वधर्म है, एवं सभी स्वधर्म श्रेष्ठ होते हैं । ब्राह्मण का स्वधर्म क्षत्रिय के स्वधर्म से भिन्न होगा लेकिन दोनों ही ठीक हैं । स्वधर्म दोषपूर्ण होने पर भी त्याज्य नहीं है ।

क्या कर्म से मुक्ति संभव है ? क्या कर्मयोग मुक्ति का एक स्वतन्त्र मार्ग है, जिसे ज्ञान भक्ति आदि अन्य उपायों की अपेक्षा नहीं है ? इस विषय में मतभेद हैं । आचार्य शंकर के अनुसार कर्म कभी भी मुक्ति प्रदान नहीं कर सकता । सकाम कर्म तो बन्धन का कारण है ही, कर्मयोग कहलाने वाला निष्काम कर्म भी चित्तशुद्धि मात्र करता है । मुक्ति तो केवल ज्ञान से ही संभव है ।

चित्तस्य शुद्धये कर्म न तु वस्तूपलब्धये ।
वस्तु सिद्धिर्विचारेण न किंचित् कोटि कर्मभिः ॥

कर्म से चित्त शुद्ध होता है, चित्त शुद्धि से वैराग्य उत्पन्न होता है और वैराग्य से ज्ञान की पात्रता जन्मती है ।

स्वपरक एवं परपरक दृष्टिकोण :

गीतोक्त कर्मयोग एवं तत्सम्बन्धी उपर्युक्त प्रचलित मान्यताओं से स्वामी विवेकानन्द प्रतिपादित कर्मयोग के पार्थक्य एवं वैशिष्ट्य को समझने के लिए कुछ मौलिक एवं सैद्धान्तिक तथ्यों को सर्वप्रथम हृदयंगम करना आवश्यक है ।

हमारा छोटा-बड़ा प्रत्येक कर्म कुछ-न-कुछ फल अथवा परिणाम प्रसूत करता है । परिणामों में कुछ तो कर्त्ता से सम्बन्धित होते, तथा उसे प्रभावित करते हैं; तथा कुछ उसके आस-पास के वातावरण, प्राणि जगत् एवं समाज को प्रभावित करते हैं । इन्हें हम क्रमशः स्वपरक एवं परपरक (Subjective and Objective) परिणामों की संज्ञा दे सकते हैं । स्वपरक परिणाम कर्त्ता के दृष्टिकोण पर निर्भर करता है जबकि परपरक परिणाम कर्त्ता के दृष्टिकोण से निरपेक्ष रहता है । अर्जुन एवं भगवान् श्रीकृष्ण के प्रारम्भिक वार्त्तालाप से प्रकटित उनके दृष्टिकोण से इन दोनों का अन्तर समझा जा सकता है । गीता के प्रथम अध्याय में अर्जुन युद्ध के मुख्यतः परपरक भावी दुष्परिणामों की एक लम्बी सूची प्रस्तुत करता है यथा, 'युद्ध से कुलक्षय होगा, कुलक्षय से कुल की स्त्रियाँ दूषित हो जायेंगी,समाज का ढाँचा बिगड़ जायेगा, वर्णसंकर पैदा होंगे और अन्त में पितरों को पिण्ड देने वाला भी कोई नहीं रहेगा । इस प्रकार युद्ध से सर्वनाश हो जायेगा ।' भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन की इन बातों का न तो उत्तर ही दिया और न ही उनका प्रतिवाद किया । युद्ध के परपरक (objective) परिणाम क्या होंगे, इस विषय की पूर्ण उपेक्षा कर भगवान् ने अर्जुन को स्वपरक दृष्टि प्रदान की । यथा आत्मा अमर है, देह नश्वर है, जो नित्य है उसका कभी नाश नहीं होता, और जो असत् है उसका अस्तित्व संभव नहीं है । तुम युद्ध के परिणामों की चिन्ता किये बिना हर्ष-विषाद रहित हो स्वधर्म करो । यदि तुम निष्काम भाव से स्वधर्म करोगे तो मरने के बाद स्वर्ग, अथवा विजयी होने पर राज्य का भोग करोगे । हाँ, एक-दो स्थानों पर अवश्य भगवान परपरक हेतुओं का उल्लेख करते हैं । यथा लोक संग्रहार्थ कर्म करो क्योंकि जनसमाज श्रेष्ठजनों के आचरण का अनुसरण करता है । यही कारण है कि भगवान् स्वयं मुक्त होते हुए भी कर्म करते हैं जिससे प्रजा का हनन न हो ।

कर्म के प्रति ये दो दृष्टिकोण वस्तुतः दो परस्पर विरोधी मौलिक विचारधाराओं का प्रतिपादन करते हैं । भारतीय दर्शन, संस्कृति एवं जीवन-पद्धति स्वपरक दृष्टिकोण पर आधारित है, जबकि पाश्चात्यदर्शन एवं सभ्यता का मूल परपरक दृष्टिकोण है । भारतीय के लिए उसका अन्तर्जगत् महत्वपूर्ण है, जबकि पाश्चात्य व्यक्ति के लिए बाह्य जगत अधिक सत्य है । भारतीय परम्परा में जगत मिथ्या, अनित्य, क्षणभंगुर माना गया है, लेकिन पाश्चात्य चिंतन के अनुसार वह पूर्ण रूपेण सत्य है । अतः जहाँ एक भारतवासी संसार को त्याग कर स्वयं की मुक्ति के लिए प्रयत्नशील रहता है वहीं पाश्चात्य देशवासी इस जगत को सुधारने संवारने एवं सुन्दर बनाने का प्रयत्न करता है । भारतीय साधक यह जानने का प्रयत्न करता हे कि कर्म से वह मुक्ति की ओर कितना बढ़ पाया है । पाश्चात्य मानव यह सोचता है कि अमुक कर्म से वह अपने संसार को कितना सुखमय बना सका है ।

स्वामी जी के कर्म योग का वैशिष्ट्य :

ये दोनों ही दृष्टिकोण अपूर्ण हैं । इन दोंनों का सन्तुलित समन्वय ही एक पूर्ण जीवन-दर्शन की सृष्टि कर सकता है और यह समन्वय स्वामी विवेकानन्द की एक महती देन है । स्वामी जी गीता के परमभक्त थे एवं अपने ग्रन्थ 'कर्मयोग' एवं इस विषय पर दिये गये अपने व्याख्यानों एवं वार्त्तालाप में उन्होंने गीतोक्त स्वपरक सिद्धांत का अनुमोदन किया है । वे कहते है कि संसार कुत्ते की पूँछ की तरह है, जिसे सीधा नहीं किया जा सकता है । संसार का कल्याण करने के प्रयत्न से स्वयं हमारा ही लाभ होता है । संसार

में दुःख-कष्ट वैसे ही बने रहते हैं, उनका थोड़ा बहुत फेर-बदल भर हो जाता है । आसक्ति ही बन्धन एवं दुःख का कारण है, अतः अनासक्त होकर कर्म करना चाहिए इत्यादि । धर्म की परिभाषा करते हुए भी स्वामी जी प्रत्येक आत्मा में अन्तर्निहित ब्रह्मत्व की अभिव्यक्ति को ही जीवन के लक्ष्य के रूप में तथा कर्मयोग को उसकी प्राप्ति के एक उपाय विशेष के रूप में निर्धारित करते हैं । अपने वार्तालापों में स्वामी जी आचार्य शंकर के इस सिद्धांत का समर्थन भी करते हैं कि कर्म से चित्त-शुद्धि होती है । लेकिन मुक्ति ज्ञान से ही संभव है ।

इस प्रकार कर्मयोग के स्वपरक पक्ष को स्वीकार करते हुए भी स्वामी जी ने उसके परपरक पक्ष की उपेक्षा नहीं की है । उनके पत्रों, वार्त्तालापों एवं भारत में दिये गये व्याख्यानों में वे लोक कल्याण, जनहित आदि के लिए भारतवासियों को ओजस्वी भाषा में प्रोत्साहित करते दिखाई देते हैं । उनके अनुसार कर्म के ये दोनों पक्ष–आत्मा की मुक्ति और जगत् का हित–परस्पर विरोधी नहीं, बल्कि परिपूरक हैं । यह केवल इसलिए नहीं कि जगत् कल्याण के लिए किये गये कर्म चित्त-शुद्धि कर मुक्ति में सहायक होते हैं, बल्कि स्वामी जी के अनुसार दोनों में कोई भेद नहीं है । जब जीव और जगत्,समष्टि और व्यष्टि दोनों में केवल एक ही ब्रह्म-सत्ता विद्यमान है, तब जगत् का हित अपना ही हित हुआ ।

स्वामी जी तो इससे भी एक कदम आगे बढ़ गये हैं । वे स्वयं की मुक्ति के प्रयत्न को हीन एवं तुच्छ कहने से भी नहीं चूकते । अपने एक शिष्य को, जो एकान्त में तपस्या करना चाहता था, स्वामी जी ने भर्त्सना करते हुए कहा था कि स्वयं की मुक्ति के लिए प्रयत्न स्वार्थ है, और यदि वह ऐसा करेगा तो नरक में जायेगा । जीव-कल्याण की यह शिक्षा उन्हें स्वयं श्रीरामकृष्ण से मिली थी । एक बार स्वामीजी ने श्रीरामकृष्ण के समक्ष सदा निर्विकल्प समाधि में डूबे । रहने की इच्छा व्यक्त की थी। इसके उत्तर में श्रीरामकृष्ण ने उन्हें हीन-बुद्धि बताया था । उनके अनुसार इससे भी । एक अवस्था है–अर्थात् सर्वभूतों में ब्रह्मदर्शन कर जीव-सेवा करना । श्रीरामकृष्ण चाहते थे कि स्वामी जी संसार के तापित, पीड़ित लोगों को आश्रय एवं शान्ति प्रदान करने वाले वटवृक्ष के समान होवें । अपने आध्यात्मिक जीवन के प्रारम्भ में गुरुदेव के श्रीमुख से सुनी यह बात भले ही स्वामी जी उस समय पूरी तरह स्वीकार न कर सके हों, पर परवर्त्ती काल में उन्होंने इसे स्वीकार किया था । वे गरीब, रोगी, दुःखी, पापी नारायण की सेवा के लिए बार-बार जन्म लेकर हजारों दुःख सहन करने को तेयार थे ।

स्वामी विवेकानन्द के स्वयं के शब्दों में 'मानव जाति को उसके ब्रह्मत्व की शिक्षा देना और यह बताना कि जीवन के प्रत्येक स्तर पर उसे किस प्रकार अभिव्यक्त किया जाय, उनका जीवन सन्देश है और यही उनके द्वारा प्रतिपादित नववेदान्त का लक्ष्य । जो लोग स्वामी जी के कर्मयोग को जीवन-व्रत के रूप में स्वीकार करेंगे, वे स्वयं की मुक्ति का प्रयत्न न करके मानव जाति की, समाज के प्रत्येक सदस्य की इस प्रकार सेवा करेंगे जिससे सेव्य अपने चैतन्य स्वरूप को पहचाने, अपने भीतर अन्तर्नि ज्ञान, शक्ति एवं आनन्द के प्रति सजग हो, उसे अभिव्यक्त करने का प्रयत्न करे । वे एक ऐसे आदर्श समाज की रचना करने में अग्रसर होंगे जहाँ समाज के प्रत्येक सदस्य को अपने अन्तर्निहित ब्रह्मत्व की अभिव्यक्ति का समुचित अवसर प्राप्त हो । निरपेक्ष दृष्टि से (In the absolute sense) जगत् के कल्याण की संभावना को अस्वीकार करते हुए भी स्वामीजी सापेक्ष दृष्टि से उसके सुधार की संभावना को अस्वीकार नहीं करते । वे एक ऐसे आदर्श समाज की कल्पना करते हैं, जहाँ कोई भी दुःखी न हो, प्रेम एवं सद्भावना का साम्राज्य हो, रोग-शोक का अभाव हो एवं पशुबलि का कोई स्थान न हो ।

जहाँ केवल एक ही जाति, ब्राह्मण जाति हो एवं जिस सत्य युग में मनुष्य दैवी सम्पद् सहित जन्म ग्रहण करें ।

मानव में प्रसुप्त चैतन्य सदा अपने को अभिव्यक्त करने का प्रयत्न कर रहा है । यह प्रयत्न उसकी अभिव्यक्ति में बाधक प्रकृति के नियमन एवं विजय के रूप में प्रकट होता है । प्रकृति भी दो प्रकार की है : अन्तः प्रकृति और बाह्य प्रकृति । भौतिक विज्ञान की सहायता से बाह्य प्रकृति पर विजय प्राप्त करना पाश्चात्य देशों का मुख्य लक्ष्य रहा है,जबकि भारतीय सभ्यता अध्यात्म-विद्या एवं योग की सहायता से अन्तःप्रकृति पर विजय प्राप्त करने पर आधारित रही है । स्वामी जी का वैशिष्ट्य इसी में है कि उन्होंने इन दोनों प्रयासों को मानव के ब्रह्मत्व की अभिव्यक्ति के दो पहलुओं के रूप में स्वीकार किया है । ज्ञान, योग, भक्ति, इन्द्रिय निग्रह एवं मनोनिग्रह आदि जिस प्रकार मानव की अन्तः प्रकृति के नियमन के उपाय एवं ब्रह्मत्व की अभिव्यक्ति की प्रचेष्टाएँ हैं, उसी प्रकार विज्ञान, साहित्य, कला, व्यापार-वाणिज्य, उद्योग एवं तकनीकी भी बहिःप्रकृति के नियमन के उपाय एवं तद्धारा ब्रह्मत्व की अभिव्यक्ति के प्रकार हैं । यही कारण है कि प्रागैतिहासिक काल से आज तक किये गये मानव के सभी प्रयास एवं प्रगति, उसके सभी क्रिया-कलाप स्वामी विवेकानन्द की अभिरुचि के विषय थे । स्वामी जी के आविर्भाव के बाद कर्म और उपासना, सेवा और साधना, परिश्रम एवं प्रार्थना में अन्तर समाप्त हो गया है । खेतों में हल चलाना या देवालय में आरती करना, विद्यालय में शिक्षा देना अथवा धर्मशास्त्र का अध्ययन करना; कारखाने में काम करना या आंखें मूँद कर ध्यान करना, समान हो गये हैं ।

शिव ज्ञान से जीव-सेवा :

स्वामी विवेकानन्द प्रतिपादित कर्मयोग का एक रूप विशिष्ट है—सेवा, शिवज्ञान से जीवसेवा । एक ओर जहाँ यह आत्मा की मुक्ति का उत्कृष्ट उपाय है, वहीं दूसरी ओर यह जगत्-हित का प्रभावशाली साधन भी है । मोक्ष के उपाय के रूप में इसमें ज्ञान, भक्ति, कर्म, योग, चारों का समावेश हो जाता है । सेव्य मेरी आत्मा का ही एक अंग या रूप है, यह ज्ञान इसे ज्ञानयोग में परिणत कर सकता है। सेव्य, शिव अथवा मेरे इष्टदेव हैं, इस प्रकार की दृष्टि से यही सेवा भक्ति योग का रूप ग्रहण कर लेती है। सेवा के लिए आवश्यक एकाग्रता एवं मानसिक प्रशिक्षण इसमें योग का अंशदान करता है और कर्म तो इसका अविभाज्य अंग है ही ।

सेवा के परपरक पक्ष में यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि इसका उद्देश्य सेव्य के अन्न-वस्त्र की आपूर्त्ति अथवा विद्या दान मात्र नहीं है । सेव्य की तात्कालिक आवश्यकता की पूर्ति आवश्यक होते हुए भी सेवा का अन्तिम लक्ष्य सेव्य को उसके भीतर प्रसन्न देवत्व/ब्रह्मत्व के प्रति जाग्रत् करना एवं उसे अपने पैरों पर खड़ा करना है, जिससे वह पूर्ण ज्ञान, शक्ति एवं आनन्द का अधिकारी बन सके । उसके भीतर का ब्रह्मत्व तो सदा ही अभिव्यक्त होने का प्रयत्न कर रहा है, सेवा एवं शिक्षा का उद्देश्य अभिव्यक्ति की बाधाओं को हटा देना मात्र है, न कि ऊपर, बाहर से कुछ थोपना और न ही सेव्य को सेवक पर आश्रित बना देना । यही कारण है कि स्वामी जी सेवा से अधिक शिक्षा पर जोर दिया करते थे । मानव जहाँ है; उसे वहीं से उठाओ, उसके आत्म विश्वास को जगाओ, स्वयं की प्रसुप्त शक्ति के प्रति सजग करो और उसकी स्वयं की शक्ति सहज प्रकृति एवं स्वभाव के अनुसार विकसित होने दो—यही हैं स्वामी विवेकानन्द की सेवा एवं शिक्षा के सिद्धान्त ।

स्वामी विवेकानन्द प्रतिपादित कर्मयोग के अधिकारी के लक्षण :

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जायेगा कि स्वामी जी प्रतिपादित कर्मयोग मानव की सर्वांगीण प्रगति का एक विशिष्ट उपाय है, जिसको करने के लिए कुछ गुण विशेष आवश्यक हैं । जिस प्रकार ज्ञानयोग में सफल होने के

लिए साधन चतुष्टय की, राजयोग में सिद्धि लाभ के लिए यम-नियम-आसन-प्राणायामादि की आवश्यकता है, उसी प्रकार स्वामी जी द्वारा प्रतिपादित कर्मयोग के लिए हृदयवत्ता, बुद्धिमत्ता एवं व्यावहारिक क्षमता की आवश्यकता है । क्या ऐसे कर्मयोगी में हृदय की अनुभव शक्ति है ? क्या वह असंख्य पीड़ित, दरिद्र, अज्ञानी नर-नारियों के दुःख को स्वयं अनुभव कर सकता है ? कितनी तीव्र है उसकी अनुभव-शक्ति ? यदि वह मानव के दुःख दर्द को ऐसी तीव्रता से अनुभव कर सकता है कि उसकी नींद ही हराम हो जाय तो वह एक आदर्श कर्म-योगी बन सकता है । लेकिन इतना ही पर्याप्त नहीं है । उसमें दूसरों के दुःख-दर्द दूर करने के उपाय सोच निकालने की भी सामर्थ्य होनी चाहिए, अन्यथा उसकी हृदयवत्ता कोरी भावुकता बनकर रह जायेगी । उसे तीक्ष्ण बुद्धि होना होगा जिससे वह समस्या की गहराई में जाकर स्थाई समाधान खोज सके । तदनंतर उसमें उस समाधान को कार्यरूप देने की सामर्थ्य भी होनी चाहिए । उसमें इतनी दृढ़ता, साहस और लगन होनी चाहिए कि वह उसके लक्ष्य प्राप्ति की सभी बाधाओं को दूर कर सिद्धकाम हो सके ।

सर्वोपरि, उसमें यह दृढ़ विश्वास होना चाहिए कि जिसकी वह सेवा करने जा रहा है, वह नारायण है । स्वयं के चैतन्य स्वरूप के प्रति किसी-न-किसी मात्रा में सजग हुए बिना सेव्य मानव में नारायण का भाव रखना संभव नहीं है । विशेषकर दुष्ट, व्यग्र, क्रोधी व्यक्ति में, राग, शोक, अपराध एवं मानसिक विकृति से ग्रसित मानव में, नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव आत्मा का प्रकाश पहचानना अत्यन्त कठिन है। सदियों से देव-विग्रहों में भगवान् को देखने का अभ्यास करते-करते आज यह हमारे लिए अत्यनत सहज हो गया है । सड़क के किनारे किसी वटवृक्ष के नीचे बने छोटे-से मन्दिर को देखकर हमारा मस्तक अनायास ही झुक जाता है, हाथ अपने आप प्रणाम में जुड़ जाते हैं । मानव में भगवान् का अधिक प्रकाश होते हुए भी हम मानव में पापी-सन्त, धनी-दरिद्र को ही देखते हैं परमात्मा को नहीं । स्वामी विवेकानन्द प्रतिपादित कर्मयोगी को ब्राह्मण-शूद्र, पण्डित-मूर्ख, बालक-वृद्ध, स्त्री-पुरुष सभी में निरन्तर नारायण को, शिव को देखने का प्रयत्न करना होगा । स्वयं के ब्रह्मत्व में दृढ़-प्रतिष्ठ एवं सभी प्राणियों के देवत्व में पूर्ण आस्थावान हजारों कर्मयोगियों के सदियों तक सततप्रयास से एक समय ऐसा आयेगा जब मानव समाज के लिए दरिद्र, अज्ञानी, पापी में भी परमात्मा को देखना उतना ही सहज एवं स्वाभाविक हो जायेगा जितना कि आज प्रस्तर मूर्ति में चैतन्य को देखना । ❑

- इस जगत में प्रत्येक मनुष्य को कर्म करना ही पड़ेगा । केवल वही व्यक्ति कर्म से परे हैं, जो सम्पूर्ण रूप से आत्मतृप्त है, जिसे आत्मा के अतिरिक्त अन्य कोई भी कामना नही; जिसका मन आत्मा को छोड़ अन्यत्र कहीं भी गमन नहीं करता, जिसके लिए आत्मा ही सर्वस्व है । शेष सभी व्यक्तियों को तो कर्म अवश्य ही करना पड़ेगा ।
- प्राचीन धर्मों ने कहा, "वह नास्तिक है, जो ईश्वर में विश्वास नहीं करता।" नया धर्म कहता है, "नास्तिक वह है जो स्वयं में विश्वास नहीं करता।"
- बल ही जीवन है और दुर्बलता मृत्यु। बल ही परम आनन्द है, शाश्वत और अमर जीवन है। दुर्बलता निरन्तर भारस्वरूप है, दुःखस्वरूप है। दुर्बलता ही मृत्यु है। बचपन से ही तुम्हारे मस्तिष्क में रचनात्मक बलप्रद और सहायक विचार प्रवेश करें।

—स्वामी विवेकानन्द

जीवन की सीख

–श्रीमत् स्वामी रंगनाथानन्द जी महाराज
अध्यक्ष, रामकृष्ण मठ, बेलुड़ मठ
–(अनुवादक, डॉ० केदारनाथ लाभ)

५. इतिहास का शिकार होने से इतिहास के स्रष्टा के रूप में भारत का उदय

विगत एक हजार वर्षों से भारतवर्ष की सर्जनात्मकता समाप्त हो गयी थी; अन्य देशों ने सैन्य-आक्रमण एवं विजय के द्वारा इतिहास की सृष्टि की और भारत उस इतिहास का शिकार होता रहा। परन्तु वह भारत अब सदा के लिए चला गया है। उसने इतिहास का स्रष्टा होना शुरू कर दिया, जब स्वामी विवेकानन्द, ३० वर्ष की युवावस्था में, बिना किसी सरकारी या संस्थागत सहायता के, सितम्बर १८९३ में, शिकागो की विश्व धर्म महासभा में व्याख्यान देने अमेरिका गये। ३० जुलाई १८९३ को शिकागो पहुँचने पर धर्म महासभा की समिति के द्वारा उन्हें कहा गया कि उनके पास कोई प्रमाण-पत्र नहीं है, या कि उन्हें किसी हिन्दू-संस्था ने अमेरिका नहीं भेजा है ! तब स्वामीजी ने एक अमेरिकी महिला के अतिथि के रूप में ठहरने बोस्टन के लिए प्रस्थान किया जिसके घर में हार्वर्ड विश्वविद्यालय के यूनानी भाषा के प्रोफेसर जॉन राइट से उनकी भेंट हुई। स्वामीजी से थोड़ी ही देर बातचीत करने के उपरान्त प्रोफेसर अत्यन्त प्रभावित हो गये और उन्होंने स्वामीजी से पूछा कि वे धर्म महासभा के प्रतिनिधि क्यों नहीं हो सकते ? स्वामीजी ने उत्तर दिया : 'मैं तो इसी के लिए आया था परन्तु धर्म महासभा के संयोजकों ने मुझसे कहा कि मेरे पास कोई प्रमाण-पत्र नहीं है। यह सुनकर प्रोफेसर राइट ने कहा: 'स्वामी जी, आप से प्रमाण-पत्र माँगना वैसा ही है जैसा सूर्य से उसके चमकने का अधिकार पूछना !' उन्होंने (प्रोफेसर ने) तत्काल धर्म महासभा की समिति को स्वामी जी का परिचय देते हुए एक पत्र लिखा जिसमें यह महावाक्य विद्यमान है : 'ये महानुभाव (स्वामी विवेकानन्द) आपके समक्ष हैं। यदि हमारे (अमेरिका के) समस्त विद्वान प्रोफेसरों को इकट्ठा कर दिया जाय तो उनके सम्मिलित ज्ञान से भी ये अधिक ज्ञानी हैं। स्वामी जी शिकागो लौट आये और कुछ कठिन स्थितियों से गुजरने के बाद, हिन्दू धर्म के प्रतिनिधि के रूप में धर्म महा सभा में प्रवेश का अधिकार मिला ओर ११ सितम्बर १८९३ को, लगभग ४ बजे सांय उन्होंने कोलम्बस हॉल में एकत्रित हजारों प्रतिनिधयों को 'अमेरिका की बहनो और भाइयो' के रूप में सम्बोधित कर प्रायः ५ मिनटों का अपना संक्षिप्त उद्घाटन-भाषण दिया। यह वेदान्त के विचारों का पहला बम गोला था जिसका विशाल अमेरिकी श्रोताओं के मानस पर विस्फोट हुआ और जिसकी सहज-स्फूर्त प्रतिक्रिया में श्रोताओं ने दो मिनटों तक करतल-ध्वनि की। यही वह घटना थी जिसने स्वयं भारत को तथा सामान्यतः सारे संसार को बता दिया कि भारत जग गया है तथा इतिहास का स्रष्टा हो गया है। यह अमेरिका जैसे शक्ति देश के मन और मस्तिष्क पर भारत की वास्तविक विजय थी। बाद में महात्मा गाँधी के आन्दोलन के द्वारा इसे और अधिक शक्तिशाली मिली। उन दिनों मैं अमेरिका में था जब एटिनबौरो की फिल्म 'गाँधी' देखने के लिए अमेरिकियों की भीड़ उमड़ जाया करती थी।

आज हमारे अपने भारतीय नागरिकों, खास कर हमारे युवाओं और हमारी राजनीति तथा प्रशासन के कार्य में लगे लोगों को आधुनिक भारत के इस शक्तिशाली रचनात्मक आवेग या मनोवेग को निश्चयपूर्वक आत्मसात् कर लेना चाहिए तथा 'प' त्रय–पैसा, प्रत्याशा (प्रॉस्पेक्ट) तथा प्रोन्नयन (प्रोमोशन) एवं नौकरी, विवाह,

मोटी तनख्वाह एवं भारी-भरकम तिलक-दहेज की वर्तमान गतिहीन-रुद्ध लालसाओं और प्रवृत्तियों के परे जाना चाहिए ! मुझे किंचित् सन्देह नहीं है कि यह पुनः पुनरुद्धारक प्रक्रिया आगामी शताब्दी में शुरू होगी तथा प्रगति करेगी ।

६. विश्व-इतिहास पर भारत की विलक्षणता का प्रभाव

स्वामी विवेकानन्द ने संसार पर भारत के विलक्षण प्रभाव की प्रकृति के विषय में जो कहा उसे हमें अवश्य जानना चाहिए (भारतीय व्याख्यान पृ० ९-१०)

'हमने कभी बन्दूक या तलवार के सहारे अपने विचारों का प्रचार नहीं किया । यदि अंग्रेजी भाषा में ऐसा कोई शब्द है जिसके द्वारा संसार को भारत का दान प्रकट किया जाए- यदि अंग्रेजी भाषा में कोई ऐसा शब्द है जिसके द्वारा मानवजाति पर भारतीय साहित्य का प्रभाव व्यक्त किया जाए तो वह यही एकमात्र शब्द 'सम्मोहन' (fascination) है । यह सम्मोहिनी शक्ति वैसी नहीं है जिसके द्वारा मनुष्य एकाएक मोहित हो जाता है, वरन् यह ठीक उसके विपरीत है, यह धीरे-धीरे बिना कुछ मालूम हुए,मानो तुम्हारे मन पर अपना आकर्षण डालती है । बहुतों को भारतीय विचार, भारतीय प्रथा, भारतीय आचार-व्यवहार, भारतीय दर्शन और भारतीय साहित्य पहले-पहल कुछ प्रतिषेधक से मालूम होते हैं; परन्तु यदि वे धैर्यपूर्वक उक्त विषयों का विवेचन करें; मन लगाकर अध्ययन करें और इन तत्त्वों में निहित महान् सिद्धान्तों का परिचय प्राप्त करें तो फलस्वरूप निन्यानबे प्रतिशत लोग आकर्षित होकर उनसे विमुग्ध हो जाएँगे ।

'सबेरे के समय गिरनेवाली कोमल ओस न तो किसी की आँखों से दिखाई देती है और न उसके गिरने से कोई आवाज ही कानों को सुनाई पड़ती है, ठीक उसी के समान यह शान्त, सहिष्णु, सर्वसह धर्मप्राण जाति धीर और मौन होने पर भी विचार साम्राज्य में अपना जबरदस्त प्रभाव डालती है ।'

भारत दो प्रकार का देश है : अमर भारत और वर्तमान रोगी भारत ।

७. होलैण्ड तथा आस्ट्रेलिया में वेदान्त को आमंत्रण

सन् १९५८ से १९८६ तक मेरे २८ वर्षों की अवधि में प्रायः ५० देशों के मेरे विदेशीय सांस्कृतिक व्याख्यान यात्रा, जिनमें से अधिकांश का आयोजन भारत सरकार ने किया था, के दौरान भारतीय चिन्तन के प्रति पाश्चात्य जगत् की इस प्रतिक्रिया का मुझे निजी अनुभव है । इन यात्राओं से इस स्थिति के बारे में हुए प्रभावों को मैंने भारतीय विद्या भवन, मुम्बई-४०००07 द्वारा प्रकाशित अपनी सचित्र पुस्तकों; 'ऐ पिलिग्रिग लुक्स ऐट द वर्ल्ड' प्रथम खंड (६०० पृष्ठ) तथा द्वितीय खंड (८०० पृष्ठ) में प्रस्तुत किया है । उदाहरण के तौर पर मैं नीचे होलैण्ड, आस्ट्रेलिया, कम्युनिस्ट चेकोस्लोवाकिया, इण्डोनेशिया तथा इंग्लैण्ड की प्रतिक्रिया प्रस्तुत करता हूँ ।

१९६१ में भारत सरकार द्वारा आयोजित ग्रीस से शुरू कर सोवियत रूस में समाप्त होनेवाली, १७ यूरोपियन देशों की अपनी ४ महीनों की व्याख्यान-यात्रा के दौरान होलैण्ड के लिए मैंने ५ दिवसीय यात्रा का समावेश किया था ।

१९७० में, जब मैं 'द टेम्पल ऑफ अण्डर स्टैण्डिंग' (मेल-मिलाप का मन्दिर) न्यूयॉर्क द्वारा आयोजित अमेरिका की यात्रा के क्रम में संयुक्त राष्ट्र अमेरिका जाने के रास्ते में जेनेवा के एक होटल में ठहरा हुआ था तब होलैण्ड के डॉ० रामा फ्लोडरमैन, जो भारत के परम अनुरागी थे तथा जिन्होंने अपने मित्रों के साथ पहले भी भारत में मुझ से मिल चुके थे, होटल में मुझसे मिले तथा एक व्याख्यान-यात्रा पर हॉलैण्ड आने एवं योग के विषय पर उन लोगों के बीच भाषण देने का अनुरोध किया । उन लोगों ने पहले से ही एक योग-वर्ग की डचभाषा में स्टीचूटग योग, नीदरलैण्ड्स के नाम से शुरुआत

कर रखी थी । मैंने कहा, मैं आऊँगा, परन्तु इस वर्ष नहीं, अगले वर्ष १९७१ में । मैंने यह भी कहा कि मैं शारीरिक व्यायाम के रूप में योग पर नहीं बोलता जिसमें उन दिनों के लोग लगे हुए थे, बल्कि योग के आध्यात्मिक एवं दार्शनिक आयाम पर बोलता हूँ जिसे वेदान्त कहते हैं । उनलोगों ने कहा: 'वस्तुतः हमलोग यही चाहते हैं ।'- वे चले गये और मैं अमेरिका गया ।

तदनुसार, १९७१ में, उन लोगों ने मुझे वायुयान का भाड़ा भेज दिया और मैं हॉलैण्ड पहुँचा तथा पहले दो सपताहों तक एम्सटर्डम विश्वविद्यालय सहित विभिन्न नगरों में व्याख्यान देते हुए मैंने तीन सप्ताह व्यतीत किये । अन्तिम सप्ताह में डॉ० रामा एवं उनके मित्रों ने ऊस्टर बीक नामक एक ग्राम में प्रायः ६० व्यक्तियों के भोजन सह आवासवाले एक होटल में एक वेदान्त शिविर की व्यवस्था की थी । यह ग्राम आरनेहम के पूर्वी शहर के समीप था । डच भाषा में ऊस्टर का अर्थ पूरब होता है और बीक का अर्थ है नदी । यही पश्चिमी जर्मनी की राइन नदी है ।

श्रोताओं में प्रायः ६० पुरुष, स्त्रियाँ, लड़के और लड़कियाँ थे । ये सब हॉलैण्ड की आबादी के प्रतिनिधिक समूह–प्रोफेसर, डाक्टर, युवजन और गृहणियाँ थे । मैंने उपनिषद और गीता– नियमित अध्ययन विषय पर पूर्वाह्न और अपराह्न में व्याख्यान दिये । उन लोगों के पास अपेक्षित पुस्तकें थीं । तदुपरान्त एक या अधिक घंटों का एक प्रेरक प्रश्नोत्तर-सत्र हुआ । उस एक सप्ताह में उन लोगों तथा स्वयं मैंने भी जिस आनन्द का अनुभव किया उसका वर्णन करने को मेरे पास शब्द नहीं हैं । वहाँ रामकृष्ण-विवेकानन्द साहित्य तथा वेदान्त की पुस्तकों का भी अच्छी विक्रय हुआ ।

सातवें दिन की संध्या में विदाई-समारोह का आयोजन था । मुझे धन्यवाद देने के लिए उन लोगों में से दो व्यक्ति बोलने उठे । भावावेश ने उन्हें आ घेरा और उन्होंने यह कहकर अपना वक्तव्य समाप्त कर दिया– 'आपने जो बहुमूल्य विचार एवं आदर्श हमें प्रदान किये तदर्थ आपको धन्यवाद देने के लिए हमलोगों के पास शब्द नहीं हैं ।'

यत्र-तत्र व्याख्यान और अन्तिम सप्ताह में वेदान्त-शिविर के साथ हॉलैण्ड की तीन सप्ताहों वाली यात्रा का यह कार्यक्रम १९८६ तक चला । उन लोगों में से एक व्यक्ति ने मेरी पुस्तक The Message of the upnishads (उपनिषदों का सन्देश) का डच भाषा में अनुवाद किया, जिसका बाद में द्वितीय संस्करण भी प्रकाशित हुआ । उन लोगों ने अपने योग संस्थान का नाम बदल कर 'स्टीच्टिंग योग-वेदान्त, नीदरलैण्ड' रख दिया ।

१९८६ ई० के कुछ वर्षों के उपरान्त डच भाषी वेदान्त-भक्तों के अनुरोध पर रामकृष्ण मठ, बेलुड़ मठ ने एम्सटर्डम के एम्सटेलवीन सेक्टर में स्थित एक विशाल भवन में एक स्थायी वेदान्त केन्द्र का संचालन करने के लिए एक स्वामीजी को हॉलैण्ड भेजा ।

यही बात आस्ट्रेलिया में भी हुई जिसकी प्रथम यात्रा मैंने अपने अमेरिका भ्रमण के हिस्से के रूप में १९६९ में की और फिर १९७१ से १९८६ तक वहाँ की नियमित रूप से यात्रा की । वहाँ का वेदान्त भावान्दोलन शीघ्र ही दक्षिणेष्वर, कलकत्ता (अब कोलकाता) के सारदा मठ की एक स्थायी शाखा के रूप में विकसित हो गया । वहाँ तीन संन्यासिनियाँ कार्यरत हैं जिनके कार्यकलाप आस्ट्रेलिया के विशाल महादेश में फैले हैं ।

❑

आगे बढ़ने का अनुकूल समय

राजनाथ सिंह सूर्य

स्वामी विवेकानंद ने एक बार कहा था ''हजारों वर्ष में नाना प्रकार की विपत्तियाँ झेल कर भी यह हिन्दू जाति क्यों नहीं मरी ? यदि हमारी रीति-नीति इतनी खराब होती तो हम लोग इतने दिनों में धरती से मिट क्यों नहीं गए ? विदेशी विजेताओं की चेष्टाओं में कोई कसर नहीं थी तो भी सारे हिन्दू मर कर नष्ट क्यों नहीं हो गए ? अन्य असभ्य देशों में भी तो ऐसा ही हुआ है। जैसे आस्ट्रेलिया, अमेरिका तथा अफ्रीका आदि महाद्वीप जनविहीन हो गए और विदेशी वहाँ जाकर खेती-बाड़ी करने लगे। वैसा ही भारतीय प्रदेश में क्यों नहीं हुआ ? पहले समझ लो कि भारत में भी बल है, सार है और यह जान लो कि अब भी हमारे पास जगत के सभ्यता-भंडार में जोड़ने के लिए कुछ है, इसलिए हम बचे हैं। राजनीतिक श्रेष्ठता अथवा सामरिक शक्ति प्राप्त करना हमारी जाति का जीवनोद्देश्य न कभी रहा है और न इस समय है और याद रखो न आगे कभी होगा।''

विश्व में जिस समय राज्य राष्ट्र की अवधारणा का बोल-बाला था, भारतीयता की अनुभूति करने वाले स्वामी विवेकानन्द ने राज्य और राष्ट्रीयता के संदर्भ में जीवनधारा की निरंतरता और राज्य की अस्थिरता की जो अभिव्यक्ति की थी वही वास्तविक भारतीय जीवन-धारा है। हमारा समाज कभी राज्याश्रित नहीं रहा है। राजसत्ता के आने-जाने के क्रम में भारतीय समाज की अनासक्ति ही उसकी संजीवनी थी जिससे निरंतर हमलों और कई शताब्दियों के विदेशी शासन के बावजूद यह सुरक्षित रहा तथा आज की भौतिकवादी अतिवादिता के बीच विश्व को शांति के मार्ग पर ले जाने का एकमात्र संबल बना हुआ है। उपनिषद में त्यागपूर्वक योग का जो संदेश दिया गया है वही पाशविकता से विरत करने की दिशा प्रदान कर सकती है। एक शताब्दी से पूर्व स्वामी विवेकानंद ने भारतीय जीवन में आध्यात्मिकता के प्रभाव से चिरंतनता की संजीवनी की ओर हमें उन्मुख किया था उसकी यथार्थता यथावत बनी हुई है। स्वामी विवेकानंद ने कहा था कि ''आप लोग अध्यात्म में विश्वास कीजिए या न कीजिए, यदि आप राष्ट्रीय जीवन को दुरुस्त रखना चाहते हैं तो आध्यात्मिकता की रक्षा के लिए सचेष्ट होना पड़ेगा।'' इस प्रकार की सचेष्टा के लिए सर्वोत्तम माध्यम है शिक्षा। अनेक भौतिक विषयों की शिक्षा के साथ-साथ अध्यात्म की शिक्षा आवश्यक है। यह बात विश्व के भौतिकवादी देश भी समझने लगे हैं।

कुछ वर्ष पूर्व हंगरी के एक विद्वान से भेंट करने का अवसर मिला था, जो भारतीय दर्शन पर अनेक शोध कार्य कर चुके थे, वर्षों तिब्बत तथा भारत में रह चुके थे। उन्होंने बताया कि भारत और भारतीयत्व के प्रति यूरोप में बहुत अधिक जिज्ञासा इसलिए है, क्योंकि जहां विश्व की तमाम सभ्यताओं का अस्तित्व मात्र खंडहरों में ही रह गया है, भारत में वह जीवंत स्वरूप में विद्यमान है। जैसा कि इकबाल ने कहा था 'यूनान मिस्त्र रोमाँ सब मिट गए जहाँ से कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी' इस 'कुछ बात' के प्रति जिज्ञासा की संतुष्टि में ही उनको विश्व की समस्याओं का समाधान दिखाई पड़ता है। आज दुनिया भर में हथियारों की होड़ बंद करने की गुहार लगाई जा रही है। यह ठीक है कि हथियारों का सबसे विनाशकारी भंडार जिनके पास है वे अपनी दादागीरी से बाज नहीं आ रहे हैं, लेकिन दूसरों को नियंत्रित करने की प्रक्रिया में उन्हें स्वयं अपने को भी नियंत्रित करने की अपरिहार्यता समझ में आने लगी है। किसी भूभाग को गुलाम बनाकर रखने की उन्नीसवीं शताब्दी की यूरोपीय पिपासा का अंत हो चुका है, लेकिन भौतिक सुख के कारण आर्थिक शोषण का माहौल अभी विद्यमान है। स्वामी जी ने

कहा था "भारत के अस्तित्व का एक मात्र हेतु है मानव जाति का आध्यात्मीकरण। यही उसकी जीवन रचना का प्रतिपाद्य विषय है। यही उसके अनंत संगीत का दायित्व है। यही उसके अस्तित्व का मेरुदण्ड है और यही उसके जीवन की आधारशिला है।"

इस आधारशिला का हमें कितना संज्ञान है ? गुलाम काल की कतिपय रूढ़ियों से मुक्ति पाने के बावजूद हमें जिस राष्ट्रीय धारा का अमृतपान करना चाहिए था उसकी ओर कितना बढ़ सके हैं। हमारी प्रगति की चर्चा में रोटी, कपड़ा और मकान की ही प्रधानता है और इसके लिए अनेकानेक कर्म-कुकर्म भी हम करने में लगे हैं। अनेक घोटाले इसी के सबूत हैं। हम निष्ठावान होने की बजाय अवसरवादी अधिक होते जा रहे हैं। राज्य पर आधारित रहने की मानसिकता ने हमें स्वावलंबी बनाने की मानसिकता से बहुत दूर कर दिया है। इसलिए सरकारी नौकरी और इस नौकरी के लिए आरक्षण का कवच हमारे लिए सबसे अधिक आकर्षण का कारण बना हुआ है।

शिक्षा का स्वरूप जिसे मानवीय गुणों के विकास पर आधारित होना चाहिए उसे जीविकोपार्जन का एकमात्र साधन मान लिया गया है। राज्य जो हमारे समाजिक जीवन को शताब्दियों तक प्रभावित नहीं कर सकता था, आजादी के उपरांत सबसे अधिक प्रभावित करने वाला तत्व बन गया है। एक शताब्दी पूर्व स्वामी विवेकानंद ने भारत की जिन समस्याओं पर उँगली रखी थी, उनकी स्थिति में आवरण बदल जाने के अलावा कोई अंतर नहीं आया है। उन्होंने जातीयता को सबसे घातक रोग के रूप में पहचाना था। जिस प्रकार मलेरिया अब डेंगू का स्वरूप धारण कर चुका है वैसे ही खानपान आदि में जातीय विद्वेष का उन्मूलन हो जाने के बावजूद राजनीतिक प्रभाव का ऐसा विकृत स्वरूप खड़ा हो गया है जो अस्पृश्यता की भावना से भी अधिक संक्रामक साबित हो रहा है। स्वामी जी ने कहा था "हमें घोर भौतिकवाद और उसकी प्रतिक्रिया से उत्पन्न घोर अंध विश्वास से अवश्य बचना होगा" क्या हम बचने की दिशा पकड़ सकते हैं ? स्वामी विवेकानंद ने सूर्य उत्तरायण होने पर जन्म लिया था। अंधकार की अवधि कम करते जाने और प्रकाश का काल बढ़ाते जाने वाले इस काल के अनुरूप उन्होंने कोहरे की चादर हटाने और शीत से ठिठुर गए शरीर को अंगड़ाई लेने वाली चेतना का संचार किया था तथा भारत के अस्तित्व के उद्देश्य से विश्व को परिचित कराया था। विभिन्न कारणों, से जिसमें अधिकतम योगदान विश्व भर के शक्तिशाली देशों का ही है, अब यह अनुभूति जगी है कि भारतीय जीवन धारा में प्रभावित होकर ही विश्व को बचाया जा सकता है, लेकिन क्या हमें स्वयं अपनी इस जीवनधारा के श्रेष्ठ तत्व का आभास है। क्या हमें इसका स्वाभिमान है।

स्वामी विवेकानन्द ने कहा था "गर्व से कहो हम भारतीय हैं।" यह गर्व तभी संभव है जब हमें उसका संज्ञान हो। मेरे गांव में एक सज्जन थे जो सवेरे दातून करने को हिंदू धर्म का अंग मानते थे। उन्होंने वेद उपनिषद आदि ग्रंथ नहीं पढ़ा था लेकिन पीढ़ियों से स्वच्छता के प्रति आचरण का ही उन पर प्रभाव था। पूर्वग्रह रहित आचरण और सर्वग्राही मानसिकता की जिस दिशा को पकड़ने का समय- समय पर हमारे मार्ग दर्शकों से हमें जो निर्देश मिला है वह राह पकड़ कर ही हम दुनिया में श्रेष्ठ राष्ट्र के रूप में खड़े होने की स्थिति पा सकते हैं। इसके लिए अब अनुकूल समय आ गया है।

❑

भक्त-शिरोमणि संत तुकाराम महाराज

श्रीमती नलिनी कुलकर्णी, पुणे

महाराष्ट्र के भागवत-धर्म रूपी मंदिर की नींव श्री ज्ञानेश्वर महाराज को तथा उस मंदिर का शिखर तुकाराम महाराज को माना जाता है वारकारी भक्तों के मुख से 'ग्यानबा तुकाराम' का नाम घोष अविरल होता रहता है । कहा जाता है कि ज्ञानदेव महाराज ने एकनाथ महाराज पर तथा नामदेव महाराज ने तुकाराम महाराज पर भागवत धर्म की जिम्मेदारी सौंपी । ऐसा स्वप्न-दृष्टांत उन्हें हुआ था । जिस कुल में विठ्ठलभक्ति परंपरा से आयी हुई है ऐसे भक्ति संपन्न कुल में तुकोबा का जन्म हुआ । धर्मनिष्ठ तथा सघन मोरे कुल में उनका जन्म १६०८ में देहू में हुआ । माँ का नाम कनकाई तथा पिता का नाम बोल्होबा । उनके दो भाई थे । व्यवसाय बनिये का था । उनके दो विवाह हुए। प्रथम विवाह रखमा से हुआ लेकिन वह हमेशा बीमार रहती थी अतः दूसरा विवाह वैरागी से हुआ । जिजाई बड़ी लड़ाकू स्त्री थी । सत्रह वर्ष की आयु में माँ-पिता चल बसे, बड़े भाई वैरागी बनकर घर छोड़कर चले गये । व्यापार में नुकसान हुआ । दो जून खाने के लाले पड़ गये । पहली पत्नी भूखी-प्यासी चल बसी । पुत्र संताजी भी भगवान को प्यारा हो गया । निराशा, विफलता से व्याप्त उनका मन आस्ते-आस्ते बिठोबाकी शरण में गया । संत वचन उन्हें आकर्षित करने लगे । मन में विरक्ति का जागरण हुआ । अकेले ही भंडारा टीलेपर जाकर नामस्मरण, भजन करने लगे । ज्ञानेश्वरी, एकनाथी भागवत का पारायण शुरू हुआ । इस प्रकार दिन-प्रति-दिन मन प्रपंच से ऊबकर परमात्मा को चरणों में, विठोबा के चरणों में, लीन होने लगा । उन्होंने गाँव के विठ्ठल मंदिर का जीर्णोद्धार किया और वहाँ कीर्तन में झाँझ लेकर साथ देने लगे । सन्त वचनों को आदर तथा श्रद्धा से कण्ठस्थ किया । स्वप्न दृष्टांत द्वारा संत नामदेव तथा साक्षात् पांडुरंग ने उन्हें कवित्व करने की तथा साहित्य रचना करने की आज्ञा दी । परिणाम स्वरूप काव्य उनके मुख से अनायास प्रस्फुटिल होने लगा ।

एक अनपढ़-अनगढ़ तुकोबा की साधना श्रद्धा के साथ हो रही थी । फलस्वरूप स्वप्न-दृष्टांत होकर स्वयं सद्गुरु ने उनपर कृपा की और माला प्रदान कर मंत्र दिया । वे स्वयं इसके संबंध में कहते हैं, 'सद्गुरु ने मुझपर कृपा की, मस्तक पर हाथ रखा' माघ शुक्ल दशमी, वृहस्पतिवार को मेरे गुरु देव ने मुझे स्वीकार किया । उन्होंने अपना नाम बाबाजी बताया और 'रामकृष्ण हरि' यह मंत्र दिया । बाबाजी चैतन्य ओतुर निवासी तथा तुकाराम महाराज को ओतुर में गंगा मार्ग पर गुरूपदेश स्वप्न में प्राप्त हुआ ।

पहले से ही अभंग रचना करने वाले तुकोबा के मुख से गुरूपदेश के बाद अभंग-गंगा, काव्य-गंगा पूर्ण शक्ति के साथ बहने लगी । आजतक लोगों से तुकोबा को उपहास और निंदा ही सहन करनी पड़ी थी क्योंकि एक अशिक्षित, निम्न जाति का मनुष्य यदि वेदों का अर्थ बताने लगे, विठ्ठल भक्ति का प्रसार करे, नामस्मरण की महिमा गाने लगे, और समाज को उपदेश देने लगे तो समाज की दृष्टि से, श्रेष्ठ वर्णों की दृष्टि से वह महान अनर्थ, अद्यःपतन था । साले मालो जैसे ब्राह्मण लोगों ने उनका काव्य चुराया, मंबाजी बुवा ने उन्हें खूब मारा । रामेश्वर भट्ट ने लिखे हुए अभंग को इंद्रायणी में डुबो देने की आज्ञा तुकोबा को दी । बृह्मवृन्द की आज्ञा शिरोधार्य कर अत्यंन्त दुःखपूर्ण अंतःकरण से उन्होंने स्वयं अपने अभंग-साहित्य-अपत्य को जल समाधि दी । ईश्वर, पांडुरंग ही यह सत्व

परीक्षा ले रहा है इस विश्वास से १३ दिनों तक इंद्रायणी के तट पर बिना खाये-पीये-सोये भजन करते रहे । कहा जाता है कि ईश्वरी कृपा से तेरहवें दिन अभंग की कापियाँ पानी में तैरती हुई, बिना खराब हुई पायी गयीं । रामभट्ट ने उनसे क्षमा माँगी । अब तुकोबा मान्यता प्राप्त संत बन गये । संताजी तेली, बहिणाबाई, निकोबा आदि अनेक लोगों ने उनका शिष्यत्व स्वीकार किया । वे नामस्मरण का उपदेश देते रहे ।

अब जीवन समाप्ति का समय उपस्थित हुआ । अब वे विठोबा से एकत्व प्राप्त करने को आतुर हो गये । उनके निर्वाण के अभंग प्रसिद्ध हैं । अपने अभंग में वे सनकादिक सब साधुसंतों की विनती करते हैं कि 'आप मेरी ओर से पंढरीटाया को विनती कीजिए कि वे मुझे जल्द से जल्द अपने पास बुला लें ।' आगे चलकर वे कहते हैं, 'मुझे संताके हाथों मायके से बुलवा आया है । अब मुझे लेने मेरे माता-पिता आएँगे । मैं नैहर चला जाऊँगा ।' अपने अभंग में उन्होंने कहा है,' देखो मुझे लेने साक्षात् हरि आये हैं । वे उस तट पर खड़े हैं । हाथों में शंख-चक्र शोभा दे रहे हैं । उनका वर्ण मेघ की भाँति श्याम है । वे अत्यन्त सुंदर हैं । चतुर्भुज हैं तथा गले में वैजयन्ती माला शोभा दे रही है । तुकोबा संतुष्ट हुआ है, मेरे घर वैकुंठराज आये हैं । आख्यायिका के अनुसार तुकोबाका सदेह स्वर्ग गमन हुआ ।

तुकोबा ने पच्चीस वर्षों में लगभग पाँच सहस्र अभंग लिखे । अभी साढ़ेचार सहस्र अभंग उपलब्ध हैं । तुकोबा काव्य की भाषा अत्यंत सीधी-सादी, सरल, आसान, समझने में सुलभ है साथ-साथ वह ओजपूर्ण तथा शक्तिशाली भी है । वह नवनीत की तरह मुद्र मुलायम भी है और बज्रसे कठोर भी है । कहीं-कहीं तो उसने ग्राम्य और बीभत्स रूप भी प्राप्त कर लिया है । तुकाराम महाराज कहते हैं, जिसका अधिकार जितना है उतना हम उसे देते हैं ।' निश्चय की शक्ति वही उसका फल है ।' प्रयत्न करने पर असाध्य भी साध्य बन जाता है । इसका कारण है अभ्यास और सातत्यो ।

डॉ० तुके पुके महाशय के मतानुसार 'ज्ञानदेव, एकनाथ, तुकाराम इनके साहित्य में एक सूत्र पाया जाता है । विचार तथा कल्पना के रूप में वे एक ही हैं केवल हरेक का रचना-सौंदर्य अलग है ।' डॉ० अ० न० जोशी कहते हैं, 'ज्ञानेश्वर महाराज के अमूर्त दर्शन को एकनाथ और तुकाराम ने इंद्रियगम्य बनाकर सामान्य लोगों तक पहुँचा दिया ।'

तुकोबा के अभंग में सामाजिक अधिष्ठान तथा सामाजिक प्रतिनिधित्व पाया जाता है । स्वयं निम्न जाति का होने के कारण उन्हें सामाजिक विषमता का शिकार होना पड़ा था अतः उस वेदना का चित्रण उनके अभंग में पाया जाता है ।

रामेश्वरभट्ट जिन्होंने तुकोबा के गाथा-अभंग को इंद्रायणी में डुबो देने की आज्ञा दी थी वे ही तुकोबा के बारे में कहते हैं– 'तुकोबा के समान भक्ति, ज्ञान, वैराग्य पूर्ण संत कहीं नहीं दिखाई दिया ।' ❑

उन लोगों के लिए, जो खाने-पीने, वंश-वृद्धि करने और फिर मर जाने के सिवा और कुछ नहीं जानते, इन्द्रिय-सुख ही एकमात्र उपलब्ध करने योग्य वस्तु है। ----पर जिनके लिए आत्मोन्नति के साधन ऐहिक जीवन के क्षणिक सुख-भोगों से अधिक महत्त्वपूर्ण हैं, जिनकी दृष्टि में इन्द्रियों की तृप्ति केवल एक नासमझ बच्चे के खिलवाड़ के समान है, उनके लिए भगवान् और भगवत्प्रेम ही जीवन का सर्वोच्च एवं एकमात्र प्रयोजन है।

–स्वामी विवेकानन्द

परम संत-श्री रंग अवधूत

—ब्र० परिमुक्त चैतन्य, छपरा

हमारी इस पुण्यभूमि भारत में साधु-सन्तों की नैसर्गिक कृपा निरन्तर ही बरस रही हैं। उनकी पुण्य-पावन चरणधूलि पाकर भारतभूमि धन्य हो गयी है। उनकी अमृतवाणी एवं अलौकिक कृतित्वों पर जगत् के नर-नारी विस्मय से अभिभूत हो रहे हैं। वे ज्ञान में, विद्या में, चिन्तन में विश्व-वेरण्य हैं और साथ ही प्रेम, भक्ति एवं प्रीति में भी अतुलनीय हैं। आज मैं ऐसे ही एक संत-पुरुष श्री रंग अवधूतजी के जीवन के बारे में चर्चा करने का यथासाध्य प्रयत्न करूँगा।

गुजरात राज्य के रत्नागिरी जिले के देवले नामक गाँव में बड़ामे नामक परिवार अपनी वैदिक परम्परा के लिए सारे गाँव में सुविख्यात था। इस परिवार में श्री विठ्ठल भट्ट नामक व्यक्ति जो विधुर थे, अपनी पवित्रता, श्रद्धा और भक्ति के कारण पूरे गाँव में सम्मानित थे। अपनी पत्नी के निधन के बाद वे पंढ़रपुर में श्री विठ्ठोवाजी की भक्ति में अपने जीवन के बाकी दिन व्यतीत करने लगे। एक दिन स्वप्न में उन्हें आदेश मिला–'मैं तुम्हारे घर आना चाहता हूँ।' विठ्ठल भट्ट को इसका अर्थ समझ में नहीं आया। पर स्वप्न बार-बार आया और आखिर में स्वन्प्न में आदेश मिला–'घर वापस जाओ और तुम्हारे गाँव से १० मील की दूरी पर पाली नामक गाँव में काशी नाम की पवित्र कन्या है, इसके साथ विवाह करो। मैं उसकी कोख से जन्म लूँगा। अब घर वापस जाओ।' स्वप्न के आदेशानुसार विठ्ठल ने घर लौट कर काशी नामक कन्या के साथ विवाह किया जो विवाह के पश्चात् रूक्मिणी के नाम से जानी जाती हैं। उनका गृहस्थ-जीवन पूर्णतः पवित्र एवं धार्मिक था। गृहस्थ-जीवन में परिणत होने के बाद विठ्ठल को गुजरात के गोधरा नामक शहर में श्रीविठ्ठलनाथजी के मन्दिर में पूजारी के रूप में नियुक्त किया गया। यथा समय इस पवित्र दम्पत्ति के घर सोमवार २१ नवम्बर १८९८ (कार्तिक शुक्ल नवमी) के दिन एक पुत्र का जन्म हुआ जिसका नाम पांडुरंग रखा गया।

शैशवकाल : पांडुरंग जब केवल डेढ़ साल के ही थे तब अपने पिताजी के साथ उनका निम्नलिखित वार्तालाप होता है जिससे उनकी मानसिकता का थोड़ा सा परिचय मिलता है। पांडुरंग : पिताजी, ये लोग क्या बोल रहे हैं ?

पिताजी : राम-राम ।

पांडुरंग : क्यों ?

पिताजी : क्योंकि इस व्यक्ति की मृत्यु हो चुकी है और उसे उसकी अन्तिम क्रिया के लिए श्मशान घाट ले जा रहे हैं।

पांडुरंग : क्या मेरी माँ भी मर जाएगी ?

पिताजी : हाँ ।

पांडुरंग : कोई ऐसा कुछ कर सकता है जिससे उसकी मृत्यु न हो ?

पिताजी : हाँ, राम नाम का श्रवण करने से मृत्यु भय से मुक्ति मिल जाती है।

अपने शैक्षणिक काल में पांडुरंग केवल मेधावी छात्र ही नहीं थे अपितु आत्मसम्मानी, निडर, उत्साही एवं चरित्रवान छात्र भी थे। उनका अपने धर्म एवं संस्कृति के प्रति भी कितना सम्मान था इसका हमें एक छोटी सी घटना से पता चलता है।

उन दिनों विद्यालय की मौखिक परीक्षा अंग्रेज शिक्षक ही लिया करते थे। परीक्षा के दौरान अंग्रेज शिक्षक के मुँह में चुहट थी और पांडुरंग ने ब्राह्मण परिवेश में उपस्थित होकर उन्हें नमस्कार किया।

अंग्रेज शिक्षक : तुम ब्राह्मण हो ?

पांडुरंग : जी हाँ ।

अंग्रेज शिक्षक : तुम ब्राह्मण लोग यज्ञोपवीत क्यों पहनते हो ?

पांडुरंग : मैं आपके प्रश्न का उत्तर प्रश्न से दूँ या उत्तर से ?

अंग्रेज शिक्षक : तुम्हें जो अच्छा लगे ।

पांडुरंग : सर, आप लोग कॉलर और टॉई क्यों पहनते हैं ?

अंग्रेज शिक्षक : क्योंकि ये मेरे ईसाई धर्म का प्रतीक है।

पांडुरंग : तो सर, यह यज्ञोपवीत हमारे हिन्दू धर्म का प्रतीक है ।

अंग्रेज शिक्षक : यदि तुम यज्ञोपवित नहीं पहनो तो क्या तुम हिन्दू या ब्राह्मण नहीं रह जाओगे ?

पांडुरंग : यदि आप कॉलर और टाई नहीं पहनते हैं तो क्या ईसाई धर्म से विमुख हो जाते हैं ?

अंग्रेज शिक्षक : नहीं, कदापि नहीं। कॉलर और टाई पहनने से मेरे धर्म में जो क्रियाएँ निषेध हैं उनका आचरण करने से मैं अपने आप को रोक पाता हूँ ।

पांडुरंग : तो ऐसा ही मेरे हिन्दू धर्म के साथ भी है ।

अंग्रेज शिक्षक : तो फिर मुण्डन करवाने की क्या आवश्यकता है ?

पांडुरंग : हमारा देश बहुत गरीब है और इस गरीब देश में फैशनेबल हेयर कट करवाना महँगा है जबकि मुण्डन करवाने में कम खर्च होता है और इतना ही नहीं, मुण्डन कराने से हमारा मन शांत रहता है एवं धीर-स्थिर रूप से हम अपना कार्य कर सकते हैं।

अंग्रेज शिक्षक : क्या सचमुच ऐसा है ?

पांडुरंग : जी हाँ, आप खुद इसका प्रयोग करके देख सकते हैं।

अंग्रेज शिक्षक इस निर्भीक प्रत्युत्तर को सुनकर विस्मित हो गए और पांडुरंग को परीक्षा में सर्वश्रेष्ठ घोषित किया।

नेतृत्वपूर्ण छात्र जीवन : पांडुरंग ने अपने कॉलेज काल में स्वराज्य आन्दोलन में भी सक्रीय भाग लेकर अपने नेतृत्व का परिचय दिया था । उन दिनों महात्मा गाँधी ने युवाओं को स्वराज्य का संदेश गाँव-गाँव तक पहुँचाने का आह्वान किया था। गाँधी जी के इस आह्वान को शिरोधार्य करके पांडुरंग भी स्वतंत्रता और स्वराज्य के आन्दोलन में कुद पड़े। उन्होंने पूरे बड़ौदा शहर एवं गोधरा के छात्रों का प्रतिनिधित्व करके युवाओं में स्वराज्य के आन्दोलन को तीव्रता प्रदान की।

महात्मा गाँधीजी के साथ एक भेंट :

गाँधीजी : तुम कहाँ से आए हो ?

पांडुरंग : बड़ौदा कॉलेज के छात्रों का प्रतिनिधि हूँ ।

गाँधी जी : इसका क्या प्रमाण है कि तुम प्रतिनिधि हो ?

पांडुरंग : यह समस्या तभी होती है जब कोई चुनौती देता है। आपकी शंका मुझे यथोचित नहीं लगती है। सिंह को कौन वन के राजा के रूप में नियुक्त करता है ?

पांडुरंग के इस निर्भीकतापूर्ण एवं वीरतापूर्ण उत्तर को सुनकर महात्मा गाँधी उनके नेतृत्व की मुक्तकंठ से प्रशंसा करने लगे।

पांडुरंग ने अपना बी०ए० संस्कृत एवं अंग्रेजी विषयों के साथ पास करके महात्मा गाँधी जी द्वारा स्थापित गुजरात विद्यापीठ के अन्तर्गत राष्ट्रीय आदर्श विनय मन्दिर, अहमदाबाद में एक संस्कृत शिक्षक के रूप में अपनी नौकरी शुरू की ।

एक बार उसी स्कूल में रजिस्ट्रार निरीक्षण करने गए। वो सीधे पांडुरंग की कक्षा में ही गए। उस समय पांडुरंग कक्षा में उपस्थित नहीं थे फिर भी विद्यार्थीगण पूरे शिष्टाचार से अपने अभ्यास में रत थे। रजिस्ट्रार इस दृश्य को देखकर आश्चर्यचकित हो गए। शिक्षक की अनुपस्थिति में भी विद्यार्थियों की विद्याप्रियता एवं अनुशासन देखकर निरीक्षक पूर्ण सन्तुष्ट हुए और ऐसे चरित्रवान शिक्षक की प्रशंसा करने लगे।

इसी काल में पांडुरंग ने शिक्षकों को 'छात्र देवो भव' (छात्र को देव स्वरूप समझ कर शिक्षित करना) नामक सूत्र दिया।

अध्यात्म जीवन की ओर अग्रसर

पांडुरंग ने चौबीस साल की आयु में ही आजीवन अविवाहित रहने का दृढ़निश्चय कर अपने अध्यात्म जीवन की शुरूआत की। उन्होंने अपना साधना क्षेत्र नर्मदा तट पर ऐसी जगह चुना जहाँ दिन के समय भी सूर्य का प्रकाश नहीं पहुँच पाता था। वह जगह अत्यंत घने जंगल से घिरी हुई एवं श्मशान भूमि के रूप में जानी जाती थी। वहाँ पर उन्होंने देखा कि एक नीम के पेड़ के नीचे साँप, मोर और नेवला एक साथ निर्भीक रूप से खेल रहे हैं। उसी नीम के वृक्ष के नीचे उन्होंने अपनी साधना शुरू की। उनकी कठोर तपस्या के कारण वह नीम का वृक्ष अपनी कड़वाहट छोड़कर मीठे नीम के वृक्ष में परिणत हो गया। उन्होंने इसी युवावस्था में अत्यंत विकट मानी जानेवाली नर्मदा परिक्रमा की। परिक्रमा के समय उनकी मुलाकात द्वारका-शारदापीठ के शंकराचार्य श्री चन्द्रशेखर जी से हुई। चन्द्रशेखर जी इस युवा पांडुरंग की संस्कृत-विद्वत्ता, त्याग एवं तपस्या से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने तुरंत पांडुरंग को कहा कि देखो तुम्हारे जैसा विद्वान एवं तपस्वी यदि शंकराचार्य की गद्दी पर बैठे तो उसकी महिमा कितनी बढ़ सकती है। फिलहाल मैं तुम्हें अपने प्रभास क्षेत्र (सोमनाथ) की गद्दी पर नियुक्त करता हूँ और बाद में मेरे अनुगामी के रूप में तुम्हें शंकराचार्य की गद्दी का उत्तराधिकारी बनाऊँगा। अब तुम मेरे साथ ही रहो। लेकिन पांडुरंग किसी भी प्रकार इस प्रलोभन में फँसने वाले नहीं थे। वे किसी भी तरह उनसे विदा माँग कर वहाँ से निकल पड़े।

जनसाधारण के बीच श्री अवधूत जी

इसी दौरान पांडुरंग श्रीरंगअवधूतजी के नाम से जनसाधारण एवं प्रबुद्ध समाज के बीच सुविख्यात होने लगे। उनकी तपस्या एवं जनसाधारण के प्रति अनुराग से आकृष्ट होकर समाज के प्रत्येक वर्ग के लोग उनके दर्शन हेतु आने लगे। उन्होंने गुजरात के गाँव-गाँव एवं शहर-शहर में श्री दत्तभक्ति को प्रचलित करवाया और लोगों को उच्च आध्यात्मिक जीवन की ओर अग्रसर किया। उन्होंने जनता के सम्मुख परस्पर देवो भव (एक दूसरे की ओर देव दृष्टि से देखना सीखो) एवं श्वासे-श्वासे दत्त नाम स्मरात्मन'' (प्रत्येक श्वास में दत्त (भगवन्नाम) का नाम स्मरण करो) नामक उद्देशात्मक सूत्र भी दिये।

सामाजिक एवं शारीरिक रूप से पीड़ित लोगों के लिए उन्होंने नारेश्वर में ही एक बहुत बड़ा मेडिकल कैम्प करवाकर आस-पास के गाँव के लोगों की दर्द के समय नारायण के रूप में सेवा की। बाद में उन्होंने नारेश्वर में ही एक छोटी सी डिस्पेन्सरी शुरू करवाई जिससे आस-पास के लोगों को मुफ्त में दवा उपलब्ध हो। आज उसी जगह एक बहुत बड़ा अस्पताल बन चुका है।

श्री रंगअवधूतजी का आध्यात्मिक कृतियाँ

श्री शंकराचार्य की भाँति उन्होंने 'राम', 'कृष्ण', 'गणेश' इत्यादि देवताओं के ऊपर विभिन्न संस्कृत स्तोत्रों की रचना करके उन्हें जनसाधारण में प्रसारित किया। उन्होंने संस्कृत भाषा में 'रंगहृदयम्' ग्रंथ में विभिन्न सतोत्रों, प्रार्थना एवं चिंतनात्मक व उपदेशात्मक विचारों का संकलन किया। गुजराती भाषा में 'श्री गुरुलीलामृत' ग्रंथ की तीन खण्डों में (ज्ञानकांड, कर्मकांड एवं उपासनाकांड) रचना की। ये ग्रंथ आध्यात्मिकता एवं दार्शनिकता से ओत-प्रोत हैं और गुजराती साहित्य में ये मास्टर पीस' के रूप में जाने जाते हैं। उन्होंने गुजराती भाषा में ही बहुत से भजन लिखे जो बाद में 'अवधूती आनन्द' नामक पुस्तक में संकलित हुए। यह उनके अपने आध्यात्मिक अनुभवों के आधार पर रचित कृति है।

आज भी बहुत से साहित्यकार उनकी लिखी कृतियों पर अपनी विवेचना लिखकर पी० एच० डी० की उपाधि प्राप्त करते हैं। उनकी बहुत सारी कृतियाँ आज भी गुजरात के विभिन्न कॉलेजों में विद्यार्थियों के पाठ्यक्रम में सम्मिलित हैं। उन्होंने केवल गुजरात में ही नहीं बल्कि विदेश (दक्षिण अफ्रीका) में भी जाकर भारत की आध्यात्मिक संस्कृति का प्रचलन एवं बिस्तार किया।

इस महान सन्त ने अपना जीवन ''बहुजन हिताय बहुजन सुखाय'' अर्पित कर १९ नवम्बर १९६८ को हरिद्वार में महासमाधि ले ली। ❑

लाटू महाराज का जन्मोत्सव

छपरा (बिहार) : स्थानीय रामकृष्ण मिशन आरम में विगत छः फरवरी को श्रीरामकृष्ण के अन्तरंग लीला-पार्षद श्रीमत् स्वामी अद्भुतानन्द (लाटू महाराज) का जन्मोत्सव धूम-धाम से मनाया गया । गायन-वादन का मनोरम कार्यक्रम प्रस्तुत किया गया डॉ० डी० एन० गौतम, आइ० पी० एस (आइ०जी० वायर लेस, पटना) ने इस अवसर पर आयोजित जन-सभा को सम्बोधित करते हुए कहा कि अनपढ़ होने के बावजूद लाटू महाराज आन्मोपलब्ध संत थे । ज्ञान का बोझ कम होने से मनुष्य का हृदय सरल होता है और सरलता प्रभु से साक्षात्कार का सहज माध्यम है । उन्होंने आगे कहा कि नदी में डुबकी लगाने पर शिर पर एकत्र पानी बोझ नहीं बनता इसी प्रकार ईश्वर प्रेम के सागर में डूबे हुए प्राणी के लिए जीवन और जगत बोझ नहीं बनते ।

आश्रम के उपाध्यक्ष डॉ० नागेश्वर प्रसाद मिश्र ने आगत-स्वागत किया तथा सचिव स्वामी समर्पणानन्द ने धन्यवाद-ज्ञापन किया ।

इस अवसर पर विभिन्न विद्यालयों के छात्रों ने सांस्कृतिक कार्यक्रम की प्रस्तुत किये जिसमें छपरा केन्द्रीय विद्यालय प्रथम एवं भागवत विद्यापीठ द्वितीय विजेता घोषित हुए ।

इस उत्सव में निर्धन नर-नारियों को वस्त्र-दान भी दिया गया तथा प्रायः दो हजार भक्तों ने प्रसाद-ग्रहण किया । ❑

श्रीमत् स्वामी आत्मस्थानन्द जी महाराज का गुजरात भ्रमण

राजकोट : रामकृष्ण मठ एवं रामकृष्ण मिशन के उपाध्यक्ष श्रीमत् स्वामी आत्मस्थानन्द जी महाराज ने गत २९ जनवरी से १५ फरवरी २००४ तक गुजरात के विभिन्न स्थानों का परिभ्रमण किया । २८ को मुम्बई से सूरत आये । १ फरवरी को सूरत में आयोजित आध्यात्मिक शिविर का उन्होंने उद्घाटन किया । २ फरवरी को बड़ोदा और ३ फरवरी को लिम्बडी पधार कर ५ फरवरी को रामकृष्ण मिशन लिम्बडी में इच्छुक भक्तों को मंत्र दीक्षा प्रदान की ।

आत्मस्थानन्द जी का ६ फरवरी को राजकोट आगमन हुआ । वहाँ स्थित श्रीरामकृष्ण आश्रम में ८ फरवरी को उन्होंने लगभग १०० भक्तों को मंत्र दीक्षा प्रदान की तथा ९ फरवरी को आश्रम परिसर में Vivekananda Insitute for Value Education and Culture (VIVEC) का शिलान्यास किया तथा उसी दिन संध्या को उन्होंने आश्रम में आयोजित जन सभा में सारगर्भित व्याख्यान दिया । १० फरवरी को पोरबन्दर पहुँचकर रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द स्मारक परिसर में ११ फरवरी को सन्त-निवास का शिलान्यास किया तथा १२ एवं १४ फरवरी को धर्म पिपासु शताधिक भक्तों को आध्यमिक दीक्षा प्रदान कर १५ फरवरी को मुम्बई के लिए प्रस्थान किया । ❑

रामकृष्ण मिशन आश्रम, पटना में पुरस्कार वितरण

पटना: स्थानीय रामकृष्ण मिशन आश्रम में २२ से २५ फरवरी तक श्रीरामकृष्ण देव का १६० वाँ जन्मोत्सव विभिन्न सांस्कृतिक कार्यक्रमों के साथ धूमधाम से मनाया गया। २९ फरवरी को सांस्कृतिक प्रतियोगिताओं के २३२ विजयी प्रतिभागियों के बीच पुरस्कार वितरण किया गया । जयप्रकाश विश्व-विद्यालय, छपरा के हिन्दी विभाग (राजेन्द्र कॉलेज) के पूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष डॉ० केदारनाथ लाभ ने इस समारोह की अध्यक्षता की श्रीमती गरिमा भगत उपायुक्त आयकर विभाग, पटना मुख्य अतिथि थीं। आश्रम के सचिव स्वामी मंगलानन्दजी ने संक्षिप्त प्रतिवेदन प्रस्तुत किया डॉ० दिलीप सेन ने अतिथियों का स्वागत एवं धन्यवाद ज्ञापन किया । ❑

निर्माणाधीन श्रीरामकृष्ण प्रार्थना मन्दिर

रामकृष्ण मिशन आश्रम
नारायणपुर, जिला बस्तर (छ.ग.) 494661
☎ : (07781) 252251 टेलिफैक्स 252393

सविनम्र निवेदन

प्रिय बन्धु,

भगवान श्री रामकृष्ण के आदर्शानुसार देश की एक अत्यन्त पिछड़ी जन-जाति, 'माड़िया' जनों का सर्वांगीण विकास साधित कर उन्हें राष्ट्र की मुख्य धारा से जोड़ने के अभिप्राय से रामकृष्ण मिशन आश्रम, नारायणपुर, छत्तीसगढ़ के अत्यधिक पिछड़े बस्तर जिले के दुर्गम, सड़क-विहीन अबूझमाड़ अंचल में अपने 5 उप केन्द्रों के साथ सन् 1985 से कार्यरत है।

अब तक संस्था द्वारा अपने नारायणपुर आधार शिविर (Base-Camp) के करीब 105 एकड़ के विस्तीर्ण दो भूखण्डों में प्रमुखतया आदिवासी जनों के हितार्थ एक **आदर्श आदिवासी उच्चतर माध्यमिक विद्यालय-विवेकानन्द विद्यापीठ, 30 शय्या युक्त अस्पताल-विवेकानन्द आरोग्यधाम, चलित औषधालय, विवेक-रथ (Video-on-wheels), उचित मूल्य दुकान समूह एवं कृषि प्रदर्शन तथा प्रशिक्षण फार्म** का निःशुल्क संचालन किया जा रहा है।

आपको जानकर प्रसन्नता होगी कि संस्था को इस बीच अपने सुनियोजित तथा सुसंचालित सेवा अभियान में प्राप्त शानदार सफलताओं के लिए भारत व राज्य शासन तथा विशिष्ट औद्योगिक व सामाजिक प्रतिष्ठानों द्वारा संस्थापित अनेक ख्याति प्राप्त पुरस्कारों से सम्मानित किया जा चुका है।

भगवान श्री रामकृष्ण के जीवन तथा संदेश पर अवलम्बित हमारे इन सेवा प्रयासों को स्थिरता व गति प्रदान करने के लिए हम वर्षों से श्री रामकृष्ण देव को समर्पित एक विशाल तथा भव्य प्रार्थना मंदिर की आवश्यकता महसूस कर रहे हैं जहाँ हमारे छात्र सहयोगीगण तथा नगर निवासी नियमित रूप से ध्यान व प्रार्थना कर समाज समर्पित अनुशासित व सुखी जीवन जीने की शक्ति प्राप्त कर धन्य हों। हमें विश्वास है कि केवल धनाभाव के कारण यह पुनीत कार्य सम्पन्न न हो सके यह आप निश्चय ही नहीं चाहेंगे। प्रार्थना मंदिर निर्माण कार्य पूर्ण करने के लिए हमें रु० 25 लाख एवं नव निर्मित ग्रंथालय भवन को उपयोगी ग्रंथों एवं आवश्यक उपकरणों सं सुसज्जित करने के लिए रु० 5 लाख, इस प्रकार कुल रु० 30 लाख की आवश्यकता है।

अतः हमारा आपसे आन्तरिक अनुरोध है कि आप हमेशा की भाँति इस हेतु अपना भरपूर आर्थिक सहयोग प्रदान कर अनुगृहीत करें।

रामकृष्ण मिशन को दिया गया दान आयकर अधिनियम की धारा 80-जी के अनुसार आयकर मुक्त होगा। दान विदेशी मुद्रा में भी स्वीकार किया जाएगा।

कृपया चेक या ड्राफ्ट 'रामकृष्ण मिशन आश्रम, नारायणपुर' के नाम पर भजें।

प्रभु आपका मंगल करें।

(स्वामी निखिलात्मानन्द)
सचिव

डाक पंजीयित संख्या – सी.एच.पी. १४-८३
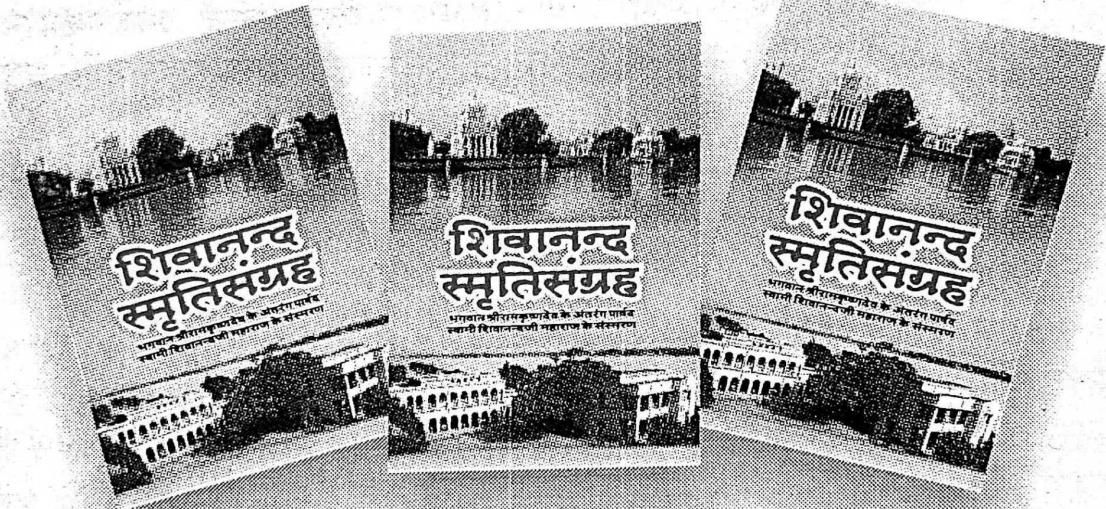
डॉ. केदारनाथ लाभ, रामकृष्ण निलयम्, जयप्रकाश नगर, छपरा (बिहार) द्वारा प्रकाशित एवं सम्पादित तथा विवेकानन्द ऑफसेट प्रिन्टर्स, छपरा – ८४१३०१ में मुद्रित।

मुद्रक : वृषाली ऑफसेट, नागपुर-१८